अर्हत् वचन

ARHAT VACANA

वर्ष – 23, अंक 3
Vol. - 23, Issue 3

जुलाई – सितम्बर 2011
July - September 2011

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के पांडुलिपि संग्रहालय का एक दृश्य

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
KUNDAKUNDA JÑĀNAPĪṬHA, INDORE

डॉ. बिटनी बउमान का व्याख्यान

डॉ अजित कासलीवाल डॉ. बिटनी बाउमान का स्वागत करते हुए। समीप है डॉ. प्रकाश चन्द्र जैन

देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर के शोध केन्द्र कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इंदौर द्वारा सामयिक और महत्वपूर्ण विषयों पर प्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित कर व्याख्यान आयोजित करने के क्रम में दिनांक 7 जून 2011 को फ्लोरिडा अंतर्राष्टीय विश्वविद्यालय, मियामी (अमेरिका) के डॉ. बिटनी बउमान का व्याख्यान जैन धर्म और पर्यावरण विषय पर आयोजित किया गया।

आपने कहा कि विज्ञान सम्पूर्ण पृथ्वी की उन्नति के लिये होना चाहिए। जिसके तहत सम्पूर्ण जीवधारियों अर्थात नदियों, वृक्षों, पशु-पक्षियों आदि सभी के संरक्षण और विकास की जरूरत है। जैन धर्म के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत के सिद्धांतों को मूल में रखकर यदि वैज्ञानिक कार्य करें एवं यदि वैज्ञानिक शोधों का इस हेतु उपयोग किया जाए तो ही हम भावी विनाश से बच सकते हैं। विश्व के सभी धर्मों में इन सिद्धांतों से संबंधित बातें न्यूनाधिक रूपों में भिन्न शब्दों में मिलती हैं किन्तु जैन धर्म में इसका अधिक तर्कसंगत विवेचन प्राप्त होता है। आपने जैन धर्म के सिद्धांतों की वैज्ञानिकता और जैन धर्म और विज्ञान के विकास में इसकी प्रासंगिकता की विस्तार से चर्चा की।

ब्र. अनिल जैन शास्त्री के मंगलाचरण से प्रारंभ कार्यक्रम की अध्यक्षता कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के निदेशक प्रो. ए.ए. अब्बासी ने की। आपने कहा कि कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ का पुस्तकालय जैन साहित्य की दृष्टि सेअत्यन्त समृद्ध है तथा जैन धर्म के किसी भी पहलू पर कार्य करने वाले शोधार्थी का शोधकार्य तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक वह यहां के भण्डार का आडोलन न करें। मंचासीन विशिष्ट अतिथि प्रो. पी.एन. मिश्र ने कहा कि धार्मिक सिद्धांतों को वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी पर कसना उचित नहीं है क्योंकि वैज्ञानिक उपकरणों एवं ज्ञानेन्द्रियों की अपनी सीमाएं हैं। जबकि हमारे ऋषियों नेअतीन्द्रिय ज्ञान के आधार पर धार्मिक सिद्धांतों की रचना की है।

अतिथियों का स्वागत संस्थाध्यक्ष डॉ. अजित कासलीवाल ने किया एवं ज्ञानपीठ की गतिविधियों की विस्तृत जानकारी देते हुए सशक्त संचालन संस्था सचिव डॉ. अनुपम जैन ने किया।

व्याख्यान देते हुए डॉ. बिटनी बाउमान (अमेरिका)

I.S.S.N. - 0971 - 9024 R.N.I. No. 50199/88

अर्हत् वचन
ARHAT VACANA

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान) , इन्दौर द्वारा प्रकाशित शोध त्रैमासिकी

Quarterly Research Journal of Kundakunda Jñānapīṭha, INDORE

(Recognised by Devi Ahilya University, Indore)

वर्ष 23, अंक 03 **जुलाई–सितम्बर 2011**

Volume 23, Issue 03 **July-September 2011**

मानद – सम्पादक

डॉ. अनुपम जैन

प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-गणित,
शासकीय होलकर (स्वशासी) विज्ञान महाविद्यालय,
इन्दौर – 452 001 भारत
☎ 0731 – 2797790, 2545421

HONY. EDITOR

Dr. Anupam Jain

Professor & Head-Department of Mathematics,
Govt. Holkar (Autonomous) Science College,
INDORE - 452 001 INDIA
email : anupamjain3@rediffmail.com

❖ ❖ ❖

प्रकाशक

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ
584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर 452 001 (म.प्र)

PUBLISHER

Dr. Ajitkumarsingh Kasliwal
President
KundaKunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Tukoganj,
INDORE - 452 001 (M.P.) INDIA

☎ (0731) 2545744, 2545421 (O) 2434718, 09302104700

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर की ओर से अध्यक्ष- डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल द्वारा 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर से प्रकाशित
एवं **सुगन ग्राफिक्स** LG - 11 **सम्पादक : डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर**

अर्हत् वचन सम्पादक मंडल / Arhat Vacana Editorial Board, 2010 & 2011

श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन (अध्यक्ष)	**Shri Narendra Prakash Jain (President)**
	Retired Principal,
	104, Nai Basti,
फिरोजाबाद –	**Firozabad -** 283 203
प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन	**Prof. Laxmi Chandra Jain**
	Retd. Professor of Mathematics & Principal,
	554, Sarafa, Upstairs Diksha Jewellers,
जबलपुर –	**Jabalpur -** 482 002
प्रो. राधाचरण गुप्त	**Prof. Radha Charan Gupta**
	Retired Professor of Mathematics,
	R-20, Rasbahar Colony, Lahargird
झांसी –	**Jhansi -** 284 003
डॉ. तकाओ हायाशी	**Dr. Takao Hayashi**
	Professor - History of Science,
	Science & Tech. Res. Institute,
	Doshisha University,
क्योटो – जापान	**Kyoto -** 610-03 Japan
प्रो. जगदीश चन्द्र उपाध्याय	**Prof. Jagdish Chandra Upadhyay**
	Professor of History,
	172, Radio Colony,
इन्दौर –	**Indore -** 452 001
श्री सूरजमल बोबरा	**Shri Surajmal Bobra**
	Director - Jñānodaya Foundation,
	9/2, Sneh Lataganj,
इन्दौर –	**Indore -** 452 003
श्री जयसेन जैन	**Shri Jaisen Jain**
	Editor - Sanmativāṇī,
	201, Amit Apartment, 1/1 Parasi Mohalla,
इन्दौर –	**Indore -** 452 001
डॉ. अनीता जैन	**Dr. Anita Jain**
	Principal - Shri Jain Diwakar College,
	Old Palasia
इन्दौर –	**Indore -** 452 001
प्रो. जे.एस. कुशवाह	**Prof. J.S. Kushwah**
	H.O.D. - English
	299, Goyal Nagar (East)
इन्दौर –	**Indore -** 452 019

– सम्पादकीय पत्राचार का पता –

डॉ. अनुपम जैन — **Dr. Anupam Jain**

'Gyan Chhaya' D - 14, Sudama Nagar,

इन्दौर – **Indore -**

Ph. : 0731 - 2797790

email : anupamjain3@rediffmail.com, 094250-53822

लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों के लिये वे स्वयं उत्तरदायी हैं। सम्पादक अथवा सम्पादक मण्डल का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं। इस पत्रिका से कोई भी आलेख पुनर्मुद्रित करते समय पत्रिका के सम्बद्ध अंक का उल्लेख अवश्य करें। साथ ही सम्बद्ध अंक की एक प्रति भी हमें प्रेषित करें। समस्त विवादों का निपटारा इन्दौर न्यायालयीन क्षेत्र में ही होगा।

मध्य प्रदेश के जैन शास्त्र भण्डार एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

गत अंक में इन्हीं पृष्ठों पर मैंने जैन शास्त्र भण्डारों का सूचीकरण एवं संरक्षण की चर्चा अन्य विषयों सहित **'सामयिक संदर्भ'**

The Discovery of India

"One of our major misfortunes is that we have lost so much of the world's ancient literature in Greece, in India and elsewhere..... Probably an organised search for old manuscripts in the libraries of religious institution, monasteries and private persons would yield rich results. That, and the critical examination of these manuscripts and, where considered desirable, their publication and translation are among the many things we have to do in india when we succeed in breaking through our shackles and can fuction for ourselves. Such a study is bound to throw light on many phases of Indian history and especially on the social background behind historic events and changing ideas."

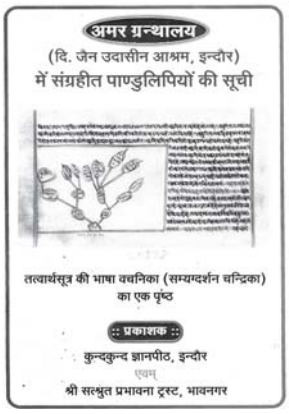
अमर ग्रन्थालय
(दि. जैन उदासीन आश्रम, इन्दौर)
में संग्रहीत पाण्डुलिपियों की सूची
तत्वार्थसूत्र की भाषा वचनिका (सम्यग्दर्शन चन्द्रिका)
का एक पृष्ठ
:: प्रकाशक ::
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
एवम्
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर

आचार्य कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार
खजुराहो (म०प्र०)
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

भट्टारक यशकीर्ति दिग. जैन सरस्वती भवन,
ऋषभदेव
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन पाण्डुलिपियों की राष्ट्रीय पंजी निर्माण परियोजना

क्र.	राज्य का नाम	सूचीकृत भंडार	सूचीकृत पाण्डुलिपियाँ
	योग	**479**	**58766**

M.R.C.

M.R.C. M.R.C.

क्र.	जिले का नाम	भंडारों की संख्या	पाण्डुलिपियाँ की संख्या

योग	432	73253

मध्य प्रदेश के इन जिलों में हमें एक भी जैन शास्त्र भंडार नहीं मिला।

1. अनूपपुर	2. अलीराजपुर
3. बालाघाट	4. डिण्डोरी
5. सीधी	6. सिंगरोली
7. शहडोल	8. उमरिया

उपरोक्त सूची में से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के भंडार की पाण्डुलिपियों का विस्तृत विश्लेषण कर अप्रकाशित पाण्डुलिपियों को छाँटा जा चुका है। इस प्रकार की 29 कृतियों की सूची निम्नवत् हैं।

क्र.	पांडुलिपि का नाम	लेखक / टीकाकार	पांडुलिपि का क्रमांक
	*	पं. हेमराज	570 एवं 594 603
15.	आयुर्वेद नुस्खे	--	571
16.	ज्योतिर्ज्ञानविधि	श्रीधराचार्य	575 एवं 592 593
17.	भैषज्यमुक्तावली	भट्ट अकलंकदेव	573
18.	भविष्यदत्तचरित्र	श्रीधराचार्य द्वितीय	576
19.	इष्टांकपंचविंशतिका*	तेजसिंह	595
20.	गणितसार संग्रह उत्तरछत्तीसी टीका	महावीराचार्य / सुमतिकीर्ति	596
21.	गणितसार संग्रह (क्षेत्र गणित)	महावीराचार्य	597 एवं 598 599
22.	षटत्रिंशतिका*	माधवचन्द्र त्रैविध	600
23.	रेखा गणित	जगन्नाथ सम्राट	652 एवं 653
24.	त्रैलोक्य दीपक	यतीन्द्र वामदेव	656
25.	त्रिलोक दर्पण	खडगसेन	672 एवं 726
26.	गणितसार**	श्रीधराचार्य	720

– डॉ. अनुपम जैन

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 11-13

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अनुशासन और शिष्टाचार

■ आचार्य विद्यानन्द मुनि *

वर्तमान परिस्थितियों में जैन साधु संस्था में अनुशासन एवं शिष्टाचार की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर केन्द्रित इस आलेख में राष्ट्रसंत आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने समसामयिक, आवश्यक चिन्तन प्रस्तुत किया है। आचार्य श्री ने अपने सुदीर्घ अनुभव के आधार पर जो दृष्टि दी है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

- सम्पादक

'यो मे श्रमणशिरो दास्यति,
तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।'[1]

'णरिंदविरुद्धाचरिदे।'[2]

'आचार्यादाचार्यान्तरप्रापणमातृतीयं पारञ्चिकम्।'[3]

'चित्रं जैनी तपस्या हि, स्वैराचार विरोधिनी।'[4]

* दि. जैन मुनि परम्परा में वरिष्ठतम् दीक्षित आचार्य, राष्ट्रसंत, सम्पर्क : कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, महरौली रोड़, नईदिल्ली - 110067

'मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा –
स्त्रिभूवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणय तः ।
परगुणपरमाणून पर्वतीकृत्य नित्यं,
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥'[5]

दिव्यावदान, पृष्ठ 434
2. आचार्य वीरसेन, धवला, 13/5, 4, 26/63/1
3. आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22/622
4. आचार्य वादिभ सिंह, क्षत्रचूड़ामणि, 2/15
5. भर्तृहरि, नीतिशतक, 79

प्राप्तः 27.06.11

जैन विद्या का पठनीय षट्मासिक

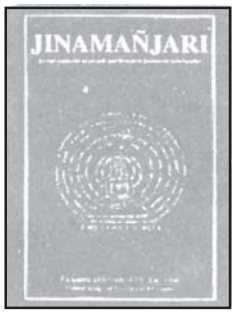

JINAMANJARI

Editor - Dr. S.A. Bhuvanendra Kumar
Periodicity - Bi-annual (April & October)
Publisher - **Brahmi Society, Canada U.S.A.**
Contact - Dr. S.A. Bhuvanedra Kumar
4665, Moccasin Trail,
MISSISSAUGA, ONTARIO
CANADA - 14Z2W5

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर - शोध समिति (निदेशक मण्डल)

अध्यक्ष
प्रो. ए.ए. अब्बासी

IDA Plot No 80 EB,

सदस्य सचिव
प्रो. अनुपम जैन

प्रो. बिमलकुमार जैन (पूर्व संकायाध्यक्ष वाणिज्य-डॉ. हरिसिंह गौर वि.वि.)
एल.आई.जी-52, पद्माकर नगर, मकरोनिया-**सागर**
प्रो. गणेश कावड़िया (अध्यक्ष - अर्थशास्त्र विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय)
ए-3, प्राध्यापक निवास, देवी अहिल्या वि.वि. खंडवा रोड़, **इन्दौर**
प्रो. नलिन के. शास्त्री (प्राध्यापक-वन.शा. एवं डीन-महा. विकास परिषद)
ए-11, प्राध्यापक निवास, मगध वि.वि. परिसर, **बोधगया, (बिहार)**
प्रो. नरेन्द्र धाकड़ (अतिरिक्त संचालक-उच्च शिक्षा, इन्दौर-उज्जैन संभाग)
296, तिलक नगर, **इन्दौर**
प्रो. पारसमल अग्रवाल (पूर्व प्राध्यापक - भौतिकी)
11, भैरवधाम कॉलोनी, सेक्टर-3, हिरणमगरी, **उदयपुर, (राज.)**
प्रो. प्रभुनारायण मिश्र (प्राध्यापक प्रबन्ध विज्ञान एवं पूर्व निदेशक)
पी-2, प्राध्यापक निवास, खंडवा रोड़, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, **इन्दौर**
डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन (सेवानिवृत्त व्याख्याता–हिन्दी)
91/1, गली नं. 3, तिलक नगर, **इन्दौर**
प्रो. सुरेशचन्द्र अग्रवाल (निदेशक-शुद्ध एवं प्रयुक्त विज्ञान संस्थान, शोभित वि.वि., मेरठ)
एफ-4, तरुकुंज, तेजगढ़ी, गढ़ रोड़, **मेरठ (उ.प्र.)**

महावीर ट्रस्ट–म.प्र. का मुखपत्र

सन्मति वाणी

सम्पादक : श्री जयसेन जैन
परामर्श सम्पादक : डॉ. प्रकाशचन्द जैन एवं
डॉ. अनुपम जैन
सह सम्पादक : डॉ. सुशीला सालगिया
आजीवन शुल्क : रु. 1000=00
प्रकाशक : श्री प्रदीपकुमारसिंह कासलीवाल, अध्यक्ष
महावीर ट्रस्ट, 63 महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर-452001

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 15-23

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

दिगम्बर जैन मुनि आर्यिकाओं की वंदना / विनय

■ प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती *

lkjk'k

दि. जैन धर्म में आर्यिकाओं की महाव्रती के रूप में श्रद्धापूर्वक वन्दना करने की सुदीर्घ परम्परा है। अपने अध्ययन। अनुसंधान कार्य के संदर्भ में जैन विद्या की सभी शाखाओं के अध्येताओं को प्रायः विशेषतः वर्षायोग में मुनि/आर्यिकाओं के पास शंका समाधान अथवा संदर्भों के संकलन हेतु जाने का अवसर प्राप्त होता है।

सभी अनुसंधाताओं के पास आगमिक प्रमाण एवं त्वरित संदर्भ उपलब्ध रहें एवं आगम के परिप्रेक्ष्य में उनकी भावना बलवती हो इसी भावना के साथ वर्षायोग के प्रारंभ में यह आलेख प्रस्तुत है ।

– सम्पादक

भारतदेश की पवित्र वसुन्धरा पर जैन शासन के अनुसार मुनि–आर्यिका, क्षुल्लक–क्षुल्लिका रूप चतुर्विध संघ परम्परा की व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। उनमें जहाँ दिगम्बर मुनियों को धर्मेश्वर के अंश कहकर सम्बोधित किया गया है, वहीं आर्यिका माताओं को "सद्धर्मकन्या" संज्ञा प्रदान की गई है। यथा–

r«k ÁR;{k/kekZ.k'] /keZ'kk'k" bokeYkk%A
Òk lUr% ojnL;kx] ojnÙkkfn;¨fxu%AA149AA[1]

अर्थात् वहाँ (भगवान नेमिनाथ के समवसरण में) उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान नेमिनाथ के आगे–समक्ष वरदत्त को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे, जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं अत्यन्त निर्मल धर्मेश्वर के अंश जान पड़ते थे।।149।।

gh n;k{kkfUr'kkUR;kfn] x.kkYkÑr lin%A
leR;¨ifo'kUR;k;k] l)eru;k ;FkkAA151AA[2]

उसके बाद तीसरी सभा में लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं, जो समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जान पड़ती थीं।।151।।

मुनिराजों को सैद्धान्तिक व्यवस्थानुसार छठा–सातवाँ गुणस्थान माना जाता है और आर्यिकाओं को पंचमगुणस्थानवर्ती कहा गया है। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि आर्यिकाएँ श्रावक–श्राविकाओं के समान देशव्रती श्राविका हैं। चरणानुयोग के ग्रंथों में मुनियों को सकलसंयमी, महाव्रती कहा है और आर्यिकाओं को उपचार महाव्रती कहा है, जैसा कि आचारसार ग्रंथ में श्री आचार्य वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है–

n'ko/kkfUorL;kl kekj¨l;Ur% c/kLr%A
egkorkfu lTtkfrKkR;Fke ipkjr%AA89AA[3]

अर्थात् बुद्धिमान आचार्यों के द्वारा उन आर्यिकाओं की सज्जाति की ज्ञप्ति के लिए देशव्रतों के साथ उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

* संघस्थ, गणिनी प्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी, सम्पर्क : दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप हस्तिनापुर (मेरठ) 250404

इस प्रकार आचार्यश्री के उपर्युक्त कथन से यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के ऊपर महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

आर्यिकाओं को महाव्रती मानना उनके किसी अभिमान पुष्टि के लिए नहीं समझना चाहिए, अपितु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा एवं प्राचीनतम गुरु परम्परा के संरक्षण की दृष्टि से ही यहाँ विभिन्न प्रमाण विद्वानों के लिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

जैसा कि पद्मपुराण में श्री रविषेणाचार्य ने कहा है–

egkozrifo«kkxk] egkl|oxlxrkA
nokl|jlek;¨x] ;;© p¨|kue|Ùkee AA81AA[4]

अर्थात् महाव्रतों के द्वारा जिसका शरीर पवित्र हो चुका था तथा जो महासंवेग को प्राप्त थी, ऐसी सीता देव और असुरों के समागम से सहित उत्तम उद्यान में चली गई।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आयिका महाव्रतों से पवित्र रहती हैं।

यही कारण है कि ऐलक के पास एक लंगोटी मात्र का परिग्रह होने पर भी एक साड़ी धारण करने वाली आर्यिकाएँ ऐलक से पूज्य होती हैं। जैसा कि सागारधर्मामृत में पं. आशाधर जी ने कहा है–

d©ihu·fi lePNRokékgR;k;k egkozrA
vfi ÒkDreePNRokr· lkVd·l;kf;|dkgfrAA37AA[5]

अर्थ–आश्चर्य है कि लंगोटी मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक उपचरित भी महाव्रत के योग्य नहीं हैं। और आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।

प्रवचनसार ग्रंथ में कहा है–

rEgk r| ifM:o] fYkx| rkfl| ft.k¢g f.kfÌÎA
d|Yk:oov¨t|Ùkk] le.kv¨ rLlekpkjkAA[6]

टीका–.....तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिंगं चिहंन तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैः निर्दिष्टं कथितम्।. ....युक्ता भवन्ति। काः ? श्रामण्यार्यिकाः। पुनरपिं किं विशिष्टाः? तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहित समाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचाराः इति।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने उन आर्यिकाओं का चिह्न वस्त्र आच्छादन सहित कहा है.....आचारशास्त्र में उनके योग्य जो आचरण कहा गया है, उसको पालने वाली हों, ऐसी आर्यिका होनी चाहिए। इस गाथा में आचार्य कुंदकुंददेव ने आर्यिकाओं को समणीओ अर्थात् श्रमणी संज्ञा दी है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान जिनेन्द्र की आज्ञास्वरूप उपचार महाव्रत धारण करने वाली श्रमणी आर्यिका ही है।

l«kikgM· e| vkpk;|Jh d|Und|Unno u| tgk| ßf.kPp|Ykikf.ki|Ùk-----bR;kfn xkFkk u- 10 d| }kjk fnxEcj efuekx| d| vfrfjä 'k"k eækv¨ d¨ vekx&m|Uekx| dgk g] ogh l«kikgM· dh xkFkk u- 7 e| dgk g&

l|ÙkRFki;fo.kÎ¨] fePNkbÎh g| l¨ e.k;|o¨A
[kM· fo .k dk;|o| ikf.kli|Ùk lp|YkLl[7]

अर्थात् जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित हैं, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए, वस्त्र सहित को क्रीड़ामात्र में भी पाणिपात्र–करपात्र में भोजन नहीं करना चाहिए, यहॉ इसका अर्थ यह नहीं समझना कि आर्यिकाओं को भी पाणिपात्र में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए अपितु गाथाओं का अर्थ ग्रंथ में पूर्वापर संबंध जोड़कर करना चाहिए अर्थात् सवस्त्र मुनि (श्वेताम्बर साधु की अपेक्षा कथन है) का यहाँ करपात्र में भोजन का निषेध है, आर्यिकाओं को करपात्र में आहार लेने का विधान है। अथवा सचेल–किसी गृहस्थ को पाणिपात्र में कभी भोजन नहीं लेना चाहिए।

णिच्चेलपाणिपत्तं.....आदि की टीका में श्री श्रुतसागर सूरि ने स्पष्ट कहा है कि सेसा य अमग्गया सव्वे–शेषा मृगचर्म–वल्कल–कर्पासपट्टकूल–रोमवस्त्र–तट्ट–गोणीतृण–प्रावरणादिसर्वे, रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विश्वे अमार्गाः संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यम्।"[8]

इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा है–

"इसके सिवाय (निर्ग्रन्थ मुनिवेष के अतिरिक्त) मृगचर्म, वृक्षों के वल्कल, कपास, रेशम, रोम से बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदि के आवरण को धारण करने वाले सभी साधु तथा लालवस्त्र, पीले वस्त्र को धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं, संसार परिभ्रमण के हेतु होने से ये मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसा भव्यजीवों को जानना चाहिए।"

यह उपर्युक्त कथन दिगम्बर जैन साधुओं के सिवाय अन्य मतावलम्बी साधुओं की अपेक्षा है, किन्तु आर्यिकाओं अथवा ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं पर कदापि घटित नहीं होता है, क्योंकि दिगम्बर मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक–क्षुल्लिका के वेष तो जिनशासन के सर्वमान्य अनादि और प्राकृतिक पद हैं उन्हें किसी व्यक्ति विशेष ने स्थापित नहीं किया है।

मेरा विद्वान् महानुभावों से कहना है कि क्या सूत्र पाहुड़ की गाथा आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक–क्षुल्लिका पर घटित करके आप इन्हें अमार्गी–जिनमार्ग से बहिर्भूत सिद्ध करना चाहेंगे ? क्योंकि आर्यिकाएं लज्जा–शील आदि गुणस्वरूप श्वेतसाड़ी धारण करती हैं, ऐलक गेरुए या सफेद रंग की लंगोट पहनते हैं, क्षुल्लकगण गेरुए या सफेद रंग की लंगोट और दुपट्टा ये दो वस्त्र ग्रहण करते हैं तथा क्षुल्लिका सफेद धोती और दुपट्टा ये दो वस्त्र उपयोग करती हैं। यह जिनशासन कथित मार्ग के अनुसार प्रवृत्ति होती है अतः ये कभी अमार्ग–उन्मार्ग नहीं कहे जा सकते हैं। यहाँ यह भी विद्वज्जन विदित सत्य ज्ञातव्य है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने ये दर्शन पाहुड़, चारित्रपाहुड़, सूत्रपाहुड़, बोधपाहुड़ आदि रूप अष्टपाहुड़ों को अनादिनिधन दिगम्बर जिनशासन से निर्गत नूतन पन्थ (जैनाभास) के विरोध में लिखा है जिसे टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने जगह–जगह अपनी टीका में स्पष्ट किया है अतः उनके वाक्यों को अधूरे रूप में अथवा तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करके अपने चतुर्विध संघ की मर्यादा और पवित्रता को भंग नहीं होने देना चाहिए।

nl jk Ádj.k g fd ße¨{kekx e ÁFke fYkx ftue æk ¼fnxEcj efu½] f}rh; mRÑ"V Jkod v©j rh jk fYkx vkf;dkv¨ dk gAÞ

इस संबंध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शन पाहुड़ में कहा है[9]–

,Dd ft.kLl :o] oh; mfDdÎ lko;k.k rA
vojfÎ;k.k rb;] pmRFk i.k fYkx nl.k .kfRFkAA18AA

इस गाथा में तीसरा लिंग आर्यिकाओं का बताया है और कहा है कि चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

इससे आचार्यदेव का अभिप्राय यहाँ आर्यिकाओं को क्षुल्लक से निम्न श्रेणी में रखने का कदापि नही है। जैसा कि इस गाथा की हिन्दी टीका में पं. पन्नालाल जी ने स्पष्ट किया है–

"सकल और विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से सकल चारित्र मुनियों के होता है। उनका लिंग अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत के धारक होने से उनके शरीर पर एक सूत भी नही रह सकता है। विकल चारित्र के धारकों के दर्शनिक 1, व्रतिक 2, सामायिकी 3, प्रोषधोपवासी 4, सचित्तत्यागी 5, रात्रिभुक्तिविरत 6, ब्रह्मचारी 7, आरंभविरत 8, परिग्रहविरत 9, अनुमतिविरत 10, और उद्दिष्टविरत 11, ये ग्यारह भेद होते हैं। इनमें से प्रारंभ के 6 श्रावक जघन्य श्रावक, उनके पश्चात् तीन

माध्यम श्रावक, और शेष के दो उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं। जिनागम में दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का बतलाया गया है। दशम प्रतिमा के धारक अनुमतिविरत श्रावक एक धोती, एक चादर तथा कमण्डलु रखते हैं। एकादश प्रतिमा के धारक उद्दिष्टविरत श्रावकों के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद हैं। ऐलक कौपीन, पिच्छी और कमण्डलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं, इस तरह जिनागम में दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का है। आर्यिकाएँ उपचार से सकल चारित्र की धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की एक सफेद धोती तथा पिच्छी रखती हैं। क्षुल्लिकाएँ ग्यारहवीं प्रतिमा की धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की धोती के सिवाय एक चादर भी रखती हैं। इस प्रकार जिनागम में तीसरा लिंग सकल चारित्र के द्वितीय भेद में स्थित आर्यिकाओं का होता है। इन तीन लिंगों के सिवाय जिनागम में चौथा लिंग नहीं है–उसमें तीन ही लिंग बतलाये हैं, हीनाधिक नहीं।

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साधुओं के उस लिंग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिग्रहत्याग महाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर भी वस्त्र धारण किया जाता है।"

ble vkf;dkv¨ d¨ mipkj l ldYkpkfj«k/kkjh dgdj Lo;eo Li"V dj fn;k g fd o fodYkpkfj«k/kkjh {kYYkd&,Ykd l cMh g¨rh g v©j ldYko rh efujkt¨ d iÜpkr nljh J.kh vkf;dkv¨ dh g¨rh gA

vkpk;¦ Jh d¦Und¦un Lokeh u Lo;¦ eYkkpkj d lekpkj vf/kdkj e dgk g&

,l¨ vTtk.k fi;] lkekpkj¨ tgkfD[kv¨ i0oA

l0ofgu vg¨jÙk] foÒkfln0o¨ t|k t¨Xx AA187AA

इसकी आचारवृत्ति टीका में श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने लिखा है[10]–

,l¨–एषः। **vTtk.kfo;&**आर्याणामपि च। **lkekpkj¨**–सामाचारः। **tgfD[kv¨**–यथा–ख्यातो यथा प्रतिपादितः। **i0o**–पूर्वस्मिन्। **l0ofEe**–सर्वस्मिन्। **vg¨jÙk**–रात्रौ दिवसे च। **foÒkfln0ok**–विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा। **tgkt¨Xx**–यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्षमूला दिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति।।187।।

अर्थात् पूर्व में मुनियों की समाचार विधि का जैसा निर्देश किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण कालरूप दिन और रात्रि में यथायोग्य–अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए। इस मूलाचार का हिन्दी अनुवाद पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने किया है, उसके भावार्थ में उन्होंने स्पष्ट किया है–

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि–विधान का ग्रन्थ नहीं है।

अन्यत्र भी कहा है–

YkTtkfou;o¦jkX;] lnkpkjkfnÒf"kr¦A

vk;kokr¦ lekpkj% l¦;rf"o fdfURogAA81AA[11]

अर्थ–लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से भूषित आर्यिकाओं के समूह में समाचार विधि संयतों के समान ही है, किन्तु आतापन योग आदि कुछ विधि आर्यिकाओं के नहीं है।

इसी प्रकार मूलाचार प्रदीप में श्री सकलकीर्ति आचार्य ने आर्यिकाओं की समाचार नीति का वर्णन किया है–[12]

v;eo lekpkj"] ;Fkk[;krLrifLouke A
rFko l|;rhuk p] ;Fkk;"X;| fop{k.k%AA2290AA
vg"&jk«"·f[kYk" eDR;;] foK;" fgrdkjd%A
o{keYkkfn&l|kx&jfgr" ftuÒkf"kr%AA2291AA

अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य सदृश आपने भी आर्यिकाओं को "संयतिका" शब्द से संबोधित करके उन्हें मुनियों के सदृश ही दिन–रात समाचार विधि अपनाने का निर्देश किया है।

इन आर्यिकाओं को आगमानुसार सिद्धांतग्रंथ भी पढ़ने और लिखने का पूर्ण अधिकार है यह बात श्री कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में सप्रमाण देखिए–

r| if<ne lT>k;| .k" dlifn fojn bfRFkoXxL lA
,Ùk" v..k" xUFk" dlifn if<ne lT>k;|AA97AA[13]

टीकांश–तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य, स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च।

अर्थ–अस्वाध्याय काल में मुनि और आर्यिकाओं को उपर्युक्त सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु इनसे भिन्न ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।

हरिवंशपुराण में तो आर्यिका सुलोचना को ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान भी प्राप्त करने का प्रमाण दिया है–

n%l|lkjLoÒkoKk] liRuhfÒ% fl rEcjkA
ckãh p l|Unjh fJRok] Áookt l|Yk"pukAA51AA
}kn'kkx/kj" tkr% f{kÁ e?kÜoj" x.khA
,dkn'kkxÒTtkrk lkf;|dkfi l|Yk"pukAA52AA[14]

अर्थ–संसार के दुष्ट स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के सफेद वस्त्र धारण कर लिए और ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली।

मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान् के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।।51–52।।

आचार्य कुन्दकुन्दरचित बोधपाहुड़ की गाथा नं. 22 की टीका में भी लिखा है कि–

.kk.k ifjlLl gofn] Ykgfn l|ifjl" fo fo.k;l|tÙk"A
.kk.k.k Ykgfn YkD[k] YkD[kr" e"D[keXxL lAA22AA[15]

टीकांश–"अपि शब्दात् ब्राह्मी–सुन्दरी, राजमती एवं चन्दनादिवत एकादशांगानि लभन्ते। मृगलोचनापि स्त्रीलिंगं छित्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुलादिषूत्पन्ना मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते।"

अर्थात् "यहाँ गाथा में 'सुपुरिसोवि–सत्पुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी–सुन्दरी, राजीमती (राजुल) तथा चन्दना आदि के समान स्त्रियाँ भी ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्गसुख का उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीय भव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं।"

ये तो कतिपय प्रमाण यहाँ दिये गये हैं जिनसे मुनि और आर्यिका की सारी चर्या एक समान मानी गई है। इसीलिए उनका प्रतिक्रमण एक ही है, उनकी दीक्षाविधि एक सदृश है और उनका प्रायश्चित्त भी एक समान है।

Ák;fÜpÙkpfYkdk xFk e vkf;dkv¨ dk Ák;fÜpÙk Òh efu;¨ d leku crk;k g&
lk/kuk ;}nfÌ"V eoek;kx.kL; pA
fnuLFkkuf«kdkYkhu] Ák;fÜpÙk leP;rAA114AA[16]

अर्थात् जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिए कहा है वैसा ही आर्यिकाओं के लिए भी कहा गया है। विशेष इतना है कि दिन प्रतिमा, त्रिकालयोग, पर्यायछेद, मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित्त आर्यिकाओं के लिए नहीं है।।

इससे आधा क्षुल्लक–क्षुल्लिकाओं का एवं उससे आधा प्रायश्चित्त ब्रह्मचारियों को दिया जाता है।

इसी प्रकार प्रवचनसार, जीवंधर चम्पू, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में आर्यिकाओं को समणी (श्रमणी) शब्द से सम्बोधित किया है। इनकी वंदना विधि एवं आहारकाल में नवधाभक्ति जैसी वर्तमानकाल में (चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर परम्परानुसार) चल रही है वह आगमानुकूल है।

;gk Álx¨ikÙk lk/k&lkf/o;¨ d¨ dh tku okYkh oUnuk fof/k ij Òh vkxe Áek.k ÁLr r g&

जैनेश्वरी दीक्षा को धारण करने वाले मोक्ष की ओर उन्मुख महापुरुष त्रिकाल वंदनीय होते हैं, यह आगम एवं व्यवहार दोनों प्रकार से स्थापित सत्य है। परस्पर साधु–साधु एवं श्रावकों के द्वारा भी दिगम्बर जैन मुनि/आर्यिकाओं की वंदना का विधान जैनागम में निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार मुनि महाराज को नमोस्तु, आर्यिका माता को वंदामि, ऐलक–क्षुल्लक–क्षुल्लिका जी को इच्छामि कहने की स्वस्थ परम्परा आगम के परिप्रेक्ष्य में आज तक चली आ रही है।

मूलाचार ग्रंथ–पूर्वार्द्ध (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) के पृष्ठ 439 पर गाथा 599 में जो विशेष कथन किया गया है, वह दृष्टव्य है–

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह–

okf[kÙkijkgÙk r ieÙk ek dnkb ofnTt¨A
vkgkj p djr¨ .khgkj ok tfn djfnAA599AA[17]

व्याक्षिप्तं[1] ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् बंदिज्ज नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽहारं च कुर्वन्तं भोजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति।।599।।

अर्थात् जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेरकर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित हैं उन मुनियों की उस समय वंदना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वंदना न करे।।599।।

केन विधानेन स्थितो वंद्यत इत्याशंकायामाह–

vkl.k vkl.kRFk p mol r mofÎnA
v.k fo..k; e/kkoh fdfn;Ee imr tnAA600AA

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यंकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं स्वस्थचित्तं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वंदनां करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः।।600।।

यहाँ गाथा में जो कृतिकर्म शब्द है उसका अर्थ जानना है–

n¨.kn r t/kkt kn ckjlkoÙkeo pA
pnfLlj fr l) p fdfn;Ee imr tnAA603AA

अर्थात् दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें। तात्पर्य यह है कि एक बार के कायोत्सर्ग में यह विधि सम्पन्न की जाती है, इसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववंदना (सामायिक), प्रतिक्रमण और सभी क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारंभ में की जाती है। इसके प्रयोग की सम्पूर्ण विधि मूलाचार में दृष्टव्य है।[18]

अर्थात् किस विधान से स्थित हों तो वंदना करे? सो ही बताते हैं–

जो आसन पर बैठे हुए हैं, शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वंदना विधि का प्रयोग करें।।600।।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जब किन्हीं विशेष श्रुतज्ञानी आचार्य महाराज की वंदना की जाती है तब लघु सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति एवं आचार्य भक्ति पढ़कर कृतिकर्मपूर्वक वंदना की जाती है (सामान्य आचार्य की वंदना में सिद्धभक्ति एवं आचार्य भक्ति का पाठ किया जाता है)। यह कृतिकर्मपूर्वक वंदना (प्रतिदिन गुरु की तीन बार करने का विधान है) करने हेतु है, सामान्यतया नमोस्तु करने हेतु नहीं। परन्तु विहार के समय अथवा चलते–फिरते समय आचार्य महाराज की वंदना करने हेतु कृतिकर्म करना संभव नहीं हो सकता, तब सामान्यरूप से विनय प्रदर्शित करते हुए अपने स्थान से उठकर खड़े होकर नमोस्तु कहकर पंचांग नमस्कार किया जाता है। नीहार (मल–मूत्र त्याग) के समय तो वंदना की कोई बात ही नहीं है।

आहार के समय जब नवधा भक्ति की जाती है तो उससे पूर्व पड़गाहन के अनंतर नमोस्तु कहकर ही मुनि महाराज को चौके के अंदर प्रवेश कराया जाता है, पुनः नवधाभक्ति के अंतर्गत नमोस्तु करके ही आहार प्रारंभ कराया जाता है, इन दोनों ही स्थितियों में कृतिकर्मपूर्वक वंदना नहीं की जाती है। पुनः जब कोई श्रावक आहार के मध्य में आहार देने हेतु चौके में आते हैं तो मन–वचन–काय की शुद्धि बोलकर नमोस्तु करके ही मुनिराज को आहार देते हैं, वहाँ भी कृतिकर्म नहीं किया जाता है।

उपरोक्त स्थितियों में कृतिकर्म पूर्वक वंदना यद्यपि नहीं की जाती है, तथापि सामान्यतया नमोस्तु किया जाता है।

आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण में देखें–

inH;keo ftukxkj Áfo"VkW J);¨);kA
vH;RFkkuueL;kfnfof/kuk |frukfp rkW AA24AA[19]

उन आकाशगामी मुनियों (सप्तऋषियों) ने उत्तम श्रद्धा के साथ भूमि पर पैदल चलकर ही जिनमंदिर में प्रवेश किया तब महामुनि आचार्य श्री द्युति महाराज ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि विधि से उनकी पूजा (वंदना) की।

कहने का अभिप्राय यह है कि सप्तऋषि महाराज आसन पर विराजमान होते, उससे पूर्व उनको देखते ही आचार्य श्री द्युति महाराज उठकर खड़े हुए एवं उनको नमोस्तु (नमस्कार) किया। सामान्यतया भी देखा जाता है कि जब साधु कहीं मंदिर आदि में प्रवेश करते हैं तो उस समय साधु और श्रावकगण उठकर खड़े होते हैं और घुटने टेककर उन्हें पंचांग नमस्कार करते हैं। यदि प्रत्येक बार साधु शांतचित्त होकर बैठें और उसके बाद साधु या श्रावक उनको नमस्कार करें तो समयानुसार यह व्यवस्था घटित ही नहीं हो पाएगी। इसके अतिरिक्त यदि कोई आचार्य ज्वर आदि से पीड़ित हैं अथवा क्षपक–समाधिरत हैं या लेटे हैं, तब भी उसी अवस्था में उनको नमोस्तु किया जाता है। उनको बैठने का आग्रह करके पुनः उनके बैठने पर ही नमोस्तु करने की प्रक्रिया व्यवहारिकरूप से भी उचित नहीं है। अतः आगम में वर्णित नमस्कार विधि में

हमें स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि कृतिकर्मपूर्वक वंदना तो तब की जाती है जब आचार्य/साधु शांतचित्त विराजमान हों।

पद्मपुराण में कहा गया है–

lk/k: i lekYk¨D; u e¥pR;klu r ;%A
n"Vok· ieU; r ;Üp l feF;knf"V#P; rAA34AA[20]

अर्थात् जो सामने आते मुनि को देखकर अपना आसन नहीं छोड़ता है तथा उन्हें देखकर उनका अपमान करता है, अर्थात् सम्मान, नमोस्तु आदि नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अर्थात् साधु को देखने मात्र से अपना स्थान छोड़कर खड़े होना एवं नमोस्तु करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। साधुजन आसन ग्रहण कर लें, तभी उन्हें नमोस्तु किया जाये, यह आगम से भी विरुद्ध ठहरता है। अतः आगम के रहस्य को सही प्रकार से हृदयंगम करना एवं सही प्रकार से प्रस्तुत करना चाहिए।

vkf;dk ekrkv¨ dh onuk dk 'kkó Áek.k&

आर्यिका माताजी की वंदना करना एवं वंदना हेतु 'वंदामि' शब्द का प्रयोग करना सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में व्याप्त है। यह शास्त्रीय आधार से है। श्री इंद्रनंदि आचार्य विरचित 'नीतिसार समुच्चय' में 'मुनि आदि को नमस्कार की विधि' देखें–

fuxUFkkuk ue¨·Lr L;knkf;dk.kk¥p onukA
JkodL;¨ÙkeL;¨PpfjPNkdkj¨·fÒ/kh; rAA51AA[21]

टीका–निर्ग्रन्थानां यतीनां। परस्परं नमोऽस्तु इतिवाक्येनाचरेत्। आर्यिकाणां साध्वीनाम् अन्योन्यम् वंदना स्यात् वन्देऽहमिति वाक्येन संवदेत्। उत्तमस्य श्रावकस्य वानप्रस्थस्य परस्परं उच्चैः स्पष्टम्। इच्छाकारोऽस्तु। इच्छामि इतिवाक्येन चाभिधीयते व्यवह्रियते नियम्यते, अहं भवन्तमिष्टं पूज्यं गुरुवदनुमेने।।51।।

अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करते समय 'नमोस्तु' कहना चाहिए। आर्यिकाओं को 'वंदना–वंदामि' कहना चाहिए और उत्तम श्रावक अर्थात् उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकों को 'इच्छामि' वा इच्छाकार कहना चाहिए।

आर्यिका माताजी की वंदना की बात शास्त्रोक्त ही है। अन्य ग्रंथों में भी देखें–

ue¨·Lr xjo d;k}Unuk c¿ãpkfj.kA
bPNkdkj l/kfeH;¨ onkeh R;kf;dkfn"kAA86AA

अर्थात् गुरुओं को "नमोऽस्तु" ब्रह्मचारियों को "वंदना" साधर्मियों को "इच्छाकार" और आर्यिकाओं को "वंदामि" करें।।86।।

यहाँ साधर्मी शब्द से उत्कृष्ट श्रावक–ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका का पद विवक्षित है उन्हें इच्छाकार या इच्छामि कहकर नमस्कार किया जाता है तथा क्रम की विवक्षा में ब्रह्मचारी, साधर्मी के बाद आर्यिकाओं को लिया है सो यह क्रम भी पद की अपेक्षा विवक्षित नहीं है। क्योंकि मुनि के बाद आर्यिका पुनः ऐलक–क्षुल्लक–क्षुल्लिका, उसके बाद ब्रह्मचारी का क्रम आता है।

इस प्रकार जैन शासन के चतुर्विध संघ (मुनि–आर्यिका–क्षुल्लक–क्षुल्लिका) की समाचार विधि एवं नमस्कार करने की विधि को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। आप सभी इस नमस्कार पद्धति को अपनाकर सन्तों के आशीर्वाद से अपने जीवन को मंगलमयी बनावें, यही शुभेच्छा है।

lanHk LFky %

1. हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1978, सर्ग 57, गाथा 149, पृ. 656
2. वही, सर्ग 57, पृ. 656
3. आचारसार, आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती प्रणीत, मैनसर (राज.), संस्करण, वी.नि.सं. 2507, द्वितीय अधिकार, गाथा 89, पृ. 39
4. पद्मपुराण, आचार्य रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, भाग–3, पर्व 106, पृ. 284
5. सागारधर्मामृत, पं. आशाधर, हिन्दी अनुवाद पं. कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली प्रथम संस्करण, पृ. 325, श्लोक 57
6. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, जयसेन कृत टीका, भा. अनेकांत विद्वत् परिषद, गाथा 224.9 पृ. 53
7. अष्टपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद–पं. पन्नालाल साहित्याचार्य–सागर, शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, महावीरजी, प्रथमावृत्ति–वी. नि. सं. 2494, अधिकार, गाथा 7, पृ. 95
8. वही, गाथा 10, श्रुतसागरसूरि टीका
9. वही अधिकार 1, गाथा 18, पृ. 28–29
10. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर (अपरनाम–आचार्य कुन्दकुन्द), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली छठा संस्करण 2006, समाचार अधिकार – गाथा 187 (आचार्य वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती की टीका), पृ. 153
11. आचारसार, आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती प्रणीत, प्रकाशन स्थल–मैनसर (राज.), संस्करण–वी.नि.सं. 2507, अध्याय 2, गाथा 81, पृ. 37
12. मूलाचार प्रदीप, आचार्य सकलकीर्ति विरचित, गाथा 2290 एवं 2291
13. मूलाचार, गाथा 97, पृ. 235
14. हरिवंश पुराण, पृ. 213
15. बोधपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द, अंतर्गत–अष्टपाहुड़, अधिकार 4, गाथा 22, पृ. 144
16. प्रायश्चित चूलिका, अंतर्गत श्रीमद् आचार्य गुरुदास विरचित प्रायश्चित समुच्चय, हिन्दी अनुवादक पं. पन्नालाल सोनी–मुरैना, भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था – कलकत्ता, वी.नि.सं. 2453, गाथा 114, पृ. 197
17. मूलाचार, गाथा 599, पृ. 439
18. वही पृ. 443, 444
19. पद्मपुराण, भाग 3, पर्व 92, श्लोक 24
20. वही, श्लोक 34
21. नीतिसार समुच्चय, श्री इन्द्रनंदि सूरि विरचित, प्रकाशक–भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, संस्करण 1990, श्लोक 51, पृ. 53?

ikfr % 30-06-2011

1. अर्हत् वचन में जैन धर्म/दर्शन के वैज्ञानिक पक्ष तथा जैन इतिहास एवं पुरातत्व से सम्बन्धित मौलिक, शोधपूर्ण एवं सर्वेक्षणात्मक आलेखों को प्रकाशित किया जाता है।
2. शोध की गुणात्मकता एवं मौलिकता के संरक्षण हेतु दो प्राध्यापकों अथवा पारम्परिक विषय विशेषज्ञों से परीक्षित करा लेने के उपरान्त ही आलेख अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाते हैं।
3. शोध आलेखों के अतिरिक्त संक्षिप्त टिप्पणियाँ, अकादमिक संगोष्ठियों/सम्मेलनों की सूचनाएँ/आख्याएँ, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं।
4. अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाने वाले समस्त लेख इस अपेक्षा से प्रकाशित किये जाते हैं कि वे न तो पूर्व प्रकाशित हैं एवं न अन्यत्र प्रकाशनार्थ प्रेषित हैं। यदि पूर्व प्रेषित कोई लेख अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है तो माननीय लेखकों को इसकी सूचना हमें तत्काल अवश्य भेजनी चाहिये।
5. लेखकगण यदि पुस्तक या लेख से सन्दर्भ ग्रहण करते हैं तो उन्हें सम्बद्ध लेख/पुस्तक का पूर्ण सन्दर्भ देना चाहिये । यथा लेख का शीर्षक, प्रकाशित करने वाली पत्रिका का नाम प्रकाशन स्थल, वर्ष, अंक, पृष्ठ संख्या अथवा पुस्तक का नाम, लेखक, प्रकाशक, संस्करण, प्रकाशन वर्ष, आवश्यकतानुसार अध्याय, गाथा, पृष्ठ संख्या आदि। उदाहरणार्थ :-
   समान सन्दर्भ की पुनरावृत्ति होने पर बाद में संक्षिप्त नाम प्रयोग में लाया जा सकता हैं।
6. लेखकगण अपने आलेख की दो प्रतियाँ टंकित एक पृष्ठीय सारांश सहित भेजने का कष्ट करें। प्रथम पृष्ठ पर लेख का शीर्षक, लेखक/लेखकों के नाम एवं पत्राचार के पूर्ण पते होने चाहिये। अन्दर के पृष्ठों पर लेखक/लेखकों के नाम न दें। **कृपया हिन्दी के आलेख एम.एस वर्ड में देवलिश फोन्ट में टाइप करके फोन्ट सहित सी.डी. में भी भेजेंगे तो प्रकाशन में सुविधा रहेगी एवं प्रकाशन शीघ्र होगा। कृपया लेख की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें वापस भेजना संभव नहीं है।**
7. लेख के साथ लेख के मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें एवं अर्हत् वचन में प्रकाशन के निर्णय होने तक अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजें।

डॉ. अनुपम जैन
सम्पादक - अर्हत्वचन
584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर - 452001
फोन : 0731-2545421, 2797790
E-mail: anupamjain3@rediffmail.com

अर्हत् वचन में समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों को पुस्तकालय में रखा जाता है। जिन पुस्तकों की 2 प्रतियाँ प्राप्त होती है उनमें से चयन करके 01 प्रति समीक्षक को भेजी जाती है। पत्रिका की विषय परिधि के अनुरुप होने पर एवं समीक्षक से समीक्षा प्राप्त होने पर समीक्षा प्रकाशित की जाती है। सभी की समीक्षा प्रकाशित करना संभव नहीं है।

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 25-28

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

भाषा विज्ञान

■ नारायण लाल कछारा *

जीव के शरीर की रचना बहुत अद्‌भुत है। उसका स्थूल शरीर हमें दिखाई देता हैं, परंतु इसके अतिरिक्त जीव के सूक्ष्म शरीर भी होते हैं जो सामान्य जन को दिखाई नहीं देते। सर्वज्ञों ने बताया है कि स्थूल शरीर की अवस्थिति और क्रियाएं सूक्ष्म शरीर पर आधारित हैं। शरीर की समस्त क्रियाएं जिन्हें जैन दर्शन में मन, वचन, काय योग कहा गया है, कार्मण शरीर से संचालित और निर्धारित होती हैं। यह एक पूरा विज्ञान है जिसकी विस्तृत विवेचना जैन दर्शन में प्राप्त है। आधुनिक विज्ञान ने स्थूल शरीर के बारे में बहुत महत्वपूर्ण खोजें की है परंतु वे इस शरीर का संबंध सूक्ष्म शरीर से नहीं जोड़ पाए हैं। जब तक इस संबंध को नहीं समझा जाता है, स्थूल शरीर का ज्ञान अधूरा है।

जैन दर्शन में सूक्ष्म शरीर की रचना वर्गणा से मानी गई है।[1] वर्गणा परमाणुओं का समूह है, परमाणु ऊर्जा की सबसे छोटी अखण्ड, अविभाजित इकाई है जो विज्ञान को ज्ञात एटम कणों से अनन्त गुणा छोटी है। वर्गणाएं दो प्रकार की मानी गई है, एक सूक्ष्म जिनमें चार स्पर्श होते हैं और भारहीन है, तथा दूसरी बादर अष्टस्पर्शी जिनमें भार होता है। सूक्ष्म शरीर चतुःस्पर्शी भारहीन वर्गणाओं से बना होता हैं, जो ऊर्जा रूप होती हैं। ये वर्गणाएं अष्टस्पर्शी वर्गणाओं से बहुत अधिक शक्तिशाली होती है। स्थूल शरीर सबसे बड़ी अष्टस्पर्शी वर्गणा से बना है।

सूक्ष्म वर्गणाएं जो जीव के उपयोग में आती हैं, पाँच हैं :

1. *आहार वर्गणा*
2. *तैजस वर्गणा*
3. *भाषा वर्गणा*
4. *मनो वर्गणा*
5. *कार्मण वर्गणा*

आहार वर्गणा जैव विद्युत के रूप में स्थूल शरीर की रचना में काम आती है। तैजस वर्गणा प्राण शरीर के रूप में शरीर में प्राणों का संचार करती है, मनो वर्गणा मन का निर्माण करती है और कार्मण वर्गणा कार्मण शरीर को बनाती है जो शरीर की समस्त क्रियाओं का नियामक है। भाषा वर्गणा के बारे में हमारा ज्ञान अभी तक स्पष्ट नहीं है, और प्रस्तुत लेख में इसी प्रश्न पर विचार करेंगे।

* प्राध्यापक एवं पूर्वनिदेशक, 55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर (राज.)

[2] - एक अर्थवाक् और दूसरा शब्दवाक् । परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये चार वाक् की स्थितियां अथवा स्वरूप हैं । हमारी भाषा, बोलचाल की भाषा वैखरी कहलाती है । वैखरी, शब्द का स्थूल रूप है और लौकिक व्यवहार का कारण बनता है । वाक् के चारों रूप परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी हमारे शरीर के भीतर भी है । परावाक् का स्थान मूलाधार है । हमारी सारी अभिव्यक्तियां मूलाधार से ही उठती हैं । शब्द की उत्पत्ति वर्णों से होती है और वर्ण की उत्पत्ति नाद से है । नाद अव्यक्त होता है और वर्ण व्यक्त । नाद ही प्रकाश पैदा करता है । आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को लेकर मन के साथ बोलने की इच्छा से युक्त होती है (परावाक्)। मन शरीर की अग्नि में आघात करता है । यह आघात वायु को प्रेरित करता है (पश्यन्ति), इसमें वक्षस्थल में स्वर की उत्पत्ति होती है (मध्यमा) और कण्ठ से वैखरी नामक शब्द प्रकट होता है । शब्द का अर्थ से संबंध है और अर्थ का ज्ञान से । इस प्रकार हम पाते हैं कि शब्द के पीछे चार शक्तियां काम कर रही हैं - आत्मा, बुद्धि, नाद और मन । नाद की तुलना भाषा वर्गणा से की जा सकती है। चूंकि शब्द आत्मा की अभिव्यक्ति है इसलिए ज्ञानात्मक है । शब्द में आत्मा के साथ मन और बुद्धि का योग है और नाद की सहायता है ।

विज्ञान के अनुसार भाषा का प्रसारण दो प्रकार से होता है । प्रथम, सामान्य तौर पर भाषा या ध्वनि, हवा या अन्य माध्यम में कंपन पैदा करती है जो तरंग रूप में प्रवाह को प्राप्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचती है । दूसरी विधि में भाषा कंपनों को विद्युत तरंगों में बदल दिया जाता है और इन विद्युत तरंगों को अन्य शक्तिशाली केरियर तरंगों की सहायता से प्रसारित किया जाता है । ये केरियर तरंगें विद्युत चुंबकीय रेडियों तरंगें होती हैं । दूसरे स्थान पर जहां भाषा या ध्वनि को सुनना होता है विद्युत तरंगों को पुनः भाषा कंपनों में बदल दिया जाता है । इस विधि से ध्वनि को अंतरिक्ष में बहुत दूर तक पहुंचाया जा सकता है । वैज्ञानिक सुदूर अंतरिक्ष से आने वाले ध्वनि संकेतों को भी ग्रहण कर लेते हैं ।

शब्द पौद्गलिक, मूर्त और अनित्य है । शब्द का अर्थ है - पुद्गलों के संघात और विघात से होने वाला ध्वनि परिणाम । असंबंधित पुद्गलों का संबंध होने से और संबंधित पुद्गलों का संबंध विच्छेद होने से शब्द का जन्म होता है । शब्द के तीन भेद है - जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द । जीव के द्वारा जो बोला जाता है, वह जीव शब्द है, यह आत्म प्रयत्न परिणाम है । वह भाषा या संकेतमय होता है । अजीव शब्द केवल अव्यक्त घ्वन्यात्मक होता है । मिश्र शब्द दोनों के संयोग से होता है । शब्द के दो भेद हैं - प्रायोगिक और वैस्त्रसिक । जो शब्द प्रयत्नजन्य है उसे प्रायोगिक कहते हैं । वह भाषात्मक और अभाषात्मक दोनों है । कोई भी प्राणी जब बोलने का प्रयत्न करता है तब वह सबसे पहले भाषा वर्गणा के परमाणु स्कंधों को ग्रहण करता है । उन्हें भाषा रूप में परिणत करता है और उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है । इस विसर्जन को भाषा कहते हैं । शब्द गतिशील है, इसलिए वक्ता के मुंह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है ।

शब्द और भाषा में अंतर स्पष्ट होना चाहिए । संकेतमय या अर्थमय शब्द भाषा है । ये शब्द जीव शब्द या मिश्र शब्द, जैसे वाद्य यंत्र ही, हो सकते हैं , अजीव शब्द नहीं । भाषा वर्गणा केवल जीव ही ग्रहण करता है, अजीव नहीं । वाद्य यंत्र के प्रयोग में भी जीव ही भाषा वर्गणा ग्रहण करता है,

जैन दर्शन सूक्ष्म विज्ञान को प्रतिपादित करता है और आधुनिक विज्ञान स्थूल जगत तक सीमित है। विज्ञान की पहुंच अभी तक सूक्ष्म जगत में नहीं है परंतु जैन दर्शन और विज्ञान दोनों मिलकर प्रकृति का सम्पूर्ण ज्ञान करा सकते हैं।

संदर्भ –

1. 'षट्द्रव्य की वैज्ञानिक मीमांसा', डॉ. नारायणलाल कछारा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007
2. 'मानस - 2', गुलाब कोठारी, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर, 2001

प्राप्तः 03.07.10

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 29-34

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

सूक्ष्म से साक्षात्कार

■ जतनलाल रामपुरिया *

जैन धर्म एवं दर्शन की वैज्ञानिकता की चर्चा तो यत्र-तत्र-सर्वत्र होती है किन्तु प्रस्तुत आलेख में विदेशी समीक्षकों की दृष्टि एवं इसके कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

- सम्पादक

लगभग अट्ठाइस-तीस वर्ष पहले की बात है। मेरे पिता जी स्व. श्रीचंद जी रामपुरिया के पास 5-7 व्यक्ति बैठे थे। वार्तालाप के मध्य नितान्त सहज भाव से पिताजी ने कहा - 'जैन धर्म पूर्णतः विज्ञान है।' मैंने उनके उद्‌गार को उतने ही सहज भाव से अति श्रद्धा की अभिव्यक्ति मानकर विस्मृत कर दिया। चार-पांच वर्ष बाद उन्होंने फिर अपनी बात दोहराई - 'जैन दर्शन का आधार विज्ञान है। इसके विश्लेषण में सर्वत्र वैज्ञानिक पद्धति की झलक मिलती है।' मैं उस दिन भी उनके कथन को गंभीरता के साथ नहीं ले सका। समय बीता। एक दिन मैं उनके सामने बैठा एक पत्रिका देख रहा था। टेबल पर बहुत सी पुस्तकें खुली हुई थीं और पिताजी अपने अध्ययन में डूबे थे। पढ़ते-पढ़ते अनायास उन्होंने जैसे अपने आपको या फिर कमरे की दीवारों को ही संबोधित करते हुए कहा - Mahāvīra was a Scientist (महावीर एक वैज्ञानिक थे)' उस दिन मैं सोच में पड़ गया। मन में आया पिताजी कॉलेज में प्रथम दो वर्ष तक विज्ञान के छात्र रहे हैं। वकालत में भी उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा मिली है। उनका सारा जीवन भारतीय दर्शनों के अध्ययन और लेखन में बीता है। वे जब बार-बार इस बात को कह रहे हैं तो मुझे उनके कथन की गहराई में उतरना चाहिए।

मैंने उनसे पढ़ने हेतु कुछ पुस्तकें मांगी। उन्होंने जो पुस्तकें दी वे सब जैन विद्वानों द्वारा लिखित थी। किंतु मेरा मन संशयग्रस्त था। मुझे लगा जैनेतर लोगों द्वारा लिखी पुस्तकों में ही तटस्थ विवेचन मिलेगा। दूसरे दिन मैंने पिताजी की लाइब्रेरी से दो पुस्तकें निकालीं। एक के लेखक थे बंगाल के जाने माने विद्वान डॉ. विमल चरण लॉ, दूसरे की लेखिका थीं इंग्लैंड की एक विदुषी एलिजाबेथ शार्प। इस लेखिका की अपनी पुस्तक के अंत में एक टिप्पणी, जो अगले पृष्ठ पर उद्‌धृत है, इस लेख को लिखने का निमित्त बनी।

एलिजाबेथ शार्प प्राचीन विद्याओं का अध्ययन करने हेतु भारत आई और कई वर्षों तक यहां रहीं। उन्होंने भारतीय दर्शन, औषधि, विज्ञान, योग आदि विषयों पर अनेक शोध-खोज पूर्ण पुस्तकें लिखी। लुजाक एंड कंपनी, लंदन द्वारा सन् 1938 में प्रकाशित उनकी एक पुस्तक का नाम है The great cremation ground (महाश्मशान)। इस शीर्षक की कल्पना के पीछे उनका आशय संभवतः 'निर्वाण' या 'मोक्ष' रहा हो। जो भी हो, मुझे इस अनूठे शीर्षक ने उक्त पुस्तक को पढ़ लेने का निमंत्रण दिया।

इस पुस्तक में विदुषी लेखिका ने जैन धर्म और उपनिषदों का संक्षिप्त मगर अत्यंत युक्तिपूर्ण

* एडवोकेट 15, नूरमल लोहिया लेन, कोलकाता - 700007

तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उपसंहार में उन्होंने जैन धर्म के बारे में जो अपना निष्कर्ष दिया है, उसका एक अंश नीचे उद्धृत है -

'जैन धर्म अपने आप में लगभग निर्दोष एवं पूर्ण है। इसमें जो कमियां हैं वे वस्तुतः विवेचित विषय के बहुत विस्तृत होने के कारण हैं , न कि इसके दर्शन (तत्वज्ञान) जनित।'[1]

भिन्न धर्म की अनुयायिनी एक पाश्चात्य लेखिका द्वारा एक प्राच्य धर्म का इतना सटीक विश्लेषण अह्लादकारी है। जैन दर्शन सचमुच इतना सूक्ष्म, इतना गहन और चिंतन के विभिन्न क्षितिजों पर इतना फैला हुआ है कि एक अध्ययनशील और जिज्ञासु व्यक्ति भी इसकी संपूर्ण गहराई तक पहुंचते-पहुंचते स्वयं को थका हुआ सा अनुभव करता है। क्यों हुआ ऐसा? इसका विशाल कलेवर क्या अकारण ही है?

भारतीय संस्कृति के दो प्रवाह - वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा - एक दूसरे को समृद्ध करते हुए साथ-साथ चले। श्रमण परम्परा की पहली निष्पत्ति जैन दर्शन के रूप में हुई, दूसरी उसके कई हजार वर्षों बाद बौद्ध दर्शन के रूप में। **इतिहासकार अब एकमत हैं कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम जीवित धर्म है।** प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की धुरी पर श्रमण परम्परा का सूत्रपात किया। भगवान महावीर जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर हुए। उन्होंने अपने पूर्व तीर्थंकरों के चिंतन मंथन को एक क्रमबद्ध और व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया। अनेकांत और अनाग्रह की भित्ति पर सब जीवों के प्रति आत्मवत आचरण और संयममय जीवन शैली का रूप लेकर जैन धर्म का अवतरण हुआ। इस जगह से मैं देखता हूँ तो लगता है कि जैन दर्शन के बारे में ऐलिजाबेथ शार्प का निष्कर्ष और मेरे पिताजी की बात दोनों का एक ही अर्थ है। इसलिए आगे के विवेचन में मैंने दोनों के कथन को एक साथ ही समझने का प्रयत्न किया है।

बाल मनोविज्ञान के अनुरूप बच्चों को सहज रूप में पढ़ना-लिखना सिखाने को आधुनिक शिक्षण शैली की जनक डॉ. मारिया मॉन्टेसरी ने एक वैज्ञानिक की बड़ी सुंदर परिभाषा दी है -

'हम उस प्रकार के व्यक्ति को वैज्ञानिक कहते हैं जो प्रयोग और परीक्षण को जीवन के अगाध सत्य की खोज का एवं उसके लुभावने रहस्यों को अनावृत्त करने का साधन मानता है और जो इस उद्यम में प्रकृति के गूढ़ भेदों के प्रति अपने अंतर में एक ममत्व जग जाने की अनुभूति करता है, इतना उत्कट कि स्वयं अपना अस्तित्व भूल जाता है।'[2]

इतने कम शब्दों में एक वैज्ञानिक का इतना सटीक विश्लेषण सचमुच अनूठा है। अतनी ही अनूठी यह बात भी कि डॉ. मारिया द्वारा एक वैज्ञानिक की यह परिभाषा अनायास भगवान महावीर के जीवन की संपूर्ण व्याख्या है।

भगवान महावीर के समूचे चिंतन की पृष्ठभूमि में डॉ. मारिया की परिभाषा के वैज्ञानिक की तरह, स्वयं को भूलकर प्रकृति के गहन रहस्यों को उनके सूक्ष्मतम रूप में जान लेने की उत्कट अभिलाषा थी। अपने ध्येय की प्राप्ति हेतु उन्होंने राजकुल को छोड़ा, सांसरिक भोगों को त्यागा और साधना में लीन होकर विराट की जटिल सूक्ष्मताओं की गवेषणा में डूब गए। जो दृश्यमान है, क्या प्रकृति उतनी सी ही है ? जो स्पर्शनीय है, क्या मनुष्य के जानने के लिए उससे बाहर कुछ नहीं ? आकार और अस्तित्व क्या एकार्थक हैं ? प्रकृति में क्या निराकार कुछ होता ही नहीं? इन जिज्ञासाओं के साथ उनकी जो अध्यात्म यात्रा प्रारंभ हुई, वह मानवीय आचार और संवेदनाएं, कारण और परिणाम एवं क्रिया और प्रतिक्रिया के अटूट संबंधों की अनिवार्य निष्पत्तियों के अनुसंधान के साथ समाप्त हुई।

सत्य के अन्वेषण की चाह ने उन्हें प्रकृति के अन्वेषण में प्रवृत्त कर दिया। वे अदृश्य की खोज में लगे। प्रकृति की खंड प्रक्रियाओं का उनके अखंड रूप में दर्शन आत्मा की स्वतंत्र सत्ता से साक्षात्कार की दिव्य अनुभूति है। इस अनुभूति के साथ उन्होंने कर्मों के दुर्जेय चक्रव्यूह की रचना भी देखी। जीव और अजीव - इन दो प्रत्यक्ष दिखने वाले तत्वों के साथ जटिल रूप में गुँथे प्रकृति के सात अदृश्य अवयवों का उन्होंने गहन संधान किया। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - जैन अध्यात्म विद्या और आत्मतत्व ज्ञान के आधारभूत इन नौ पदार्थों की अत्यंत युक्तिसम्मत, तलस्पर्शी और विशद व्याख्या सचमुच मानवेत्तर ज्ञान से निष्पन्न लगती है।

तत्त्व का अर्थ है वह वस्तु जिसका वास्तविक अस्तित्व हो। जन्म और मृत्यु के कारण अपनी आंखों से हमें दिखे या न दिखे, मगर वे नितान्त स्वतंत्र, एकांगी और आकस्मिक घटनाएं नहीं, क्रिया और प्रतिक्रिया के एक श्रृंखलाबद्ध और व्यवस्थित क्रम की अनिवार्य परिणतियां हैं। गेंद जमीन से टकराती है और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ऊपर उछलती है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, सेंट्रीफ्यूगल फोर्स (centrifugal force) इस क्रिया की प्रतिक्रिया है। जेट इंजन जिस क्रिया का सूत्रपात करता है, विमान का ऊपर की ओर उठना उसकी प्रतिक्रिया है। पृथ्वी के अंदर से फूट रहा ज्वालामुखी, पहाड़ की चोटी पर जम रही बर्फ, आकाश में घुमड़ते बादल और समुद्र से उठ रहा ज्वार- सब क्रिया और प्रतिक्रिया के अंतः पाश की प्रतिध्वनियां हैं। तो फिर जन्म लेने की क्रिया नितान्त स्वतंत्र कैसे हो सकती है ? सत् चिंतन और सत्कार्यों की कोई अनुगूंज क्यों नहीं होगी ? हिंसा और चोरी में लिप्त व्यक्ति के दुष्कर्म यहीं समाप्त क्यों हो जाएंगे ? क्यों ? जैन धर्म इसी 'क्यों' के समाधान में निकले भगवान महावीर के अंतर्मन की यात्रा का वृत्त है।

मनुष्य अपने चरम उत्कर्ष तक पहुंचने की क्षमता लेकर उत्पन्न होता है, पर अज्ञान और काम, क्रोध, तृष्णा, आसक्ति आदि उसके सहजात विकार उसे इस क्षमता को पहचानने नहीं देते। भगवान महावीर ने मनुष्य के मन को विमूर्च्छित करने वाले इन अवरोधों को विजित करने हेतु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की बात कही और मनुष्य को उस क्षमता का बोध कराया। वह रत्नत्रयी जैन दर्शन का आधार स्तंभ है और संपूर्ण अध्यात्म जगत को जैन धर्म की गौरवशाली देन है। इसे सार रूप में इस तरह समझा जा सकता है -

सम्यक् दर्शन – सत्य और असत्य, श्रेय और हेय एवं शाश्वत और नश्वर के बीच सही विवेचन करने की दृष्टि और जो सत्य है, श्रेय है, शाश्वत है उसमें गहन आस्था सम्यक् दर्शन है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष- ये नौ पदार्थ (तत्त्व) सत्य के दृश्य और अदृश्य रूप हैं। इनके अस्तित्व में अविकल विश्वास के बिना गंतव्य स्पष्ट नहीं होता। आस्थारहित अस्थिर मन यथार्थ और अयथार्थ के बीच विभेद नहीं कर पाता और भटक जाता है। अतः संशयशील व्यक्ति के लिए सत्य उपगम्य नहीं। सम्यक् दर्शन मन को संशयमुक्त कर अंधकार से प्रकाश की ओर गमन की प्रक्रिया है और इसलिए अध्यात्म यात्रा का प्रथम सोपान है।

सम्यक् ज्ञान – हर जीव में सहजात कुछ ज्ञान होता है। कोई जीव संज्ञाविहीन नहीं मगर सम्यक दर्शन के अभाव में ज्ञान अपूर्ण रहता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति सृष्टि के सही स्वरूप को नहीं समझ पाता। सम्यक् दर्शन से निष्पन्न ज्ञान नीर-क्षीर-विवेक-समझ और यथार्थ परक होता है। यही उत्थित संज्ञा जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान की निम्नांकित पांच श्रेणियां हैं-

सम्यक् चारित्र – हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह (पदार्थों में आसक्ति और उनका संग्रह) ये पांच आस्रव के हेतु हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और ईर्ष्या - ये छह कषाय (विकार) हैं। इन असत् प्रवृत्तियों के शमन हेतु आत्मानुशासन, इंद्रिय निग्रह एवं मन, वचन और काया द्वारा संयममय और अमलिन आचरण सम्यक् चारित्र है ।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र परस्पर अन्योन्याश्रित और अविच्छिन्न हैं । ये तीनों धर्म के सही स्वरूप को जानने और उसकी अनुपालना के लिए पूर्व शर्त के रूप में जैन दर्शन के महत्वपूर्ण अंग हैं । धर्म क्या है - बिना सम्यक् ज्ञान के यह समझा नहीं जा सकता, ऐसा जैन दर्शन का आग्रह है और यही आग्रह जैन धर्म को विज्ञान के धरातल पर ले जाता हैं । यह अतिरंजना नहीं कि विज्ञान शब्द जिस अर्थ में आज प्रयुक्त है, वहीं आशय अगर भगवान महावीर के समय व्यक्त करता होता उनके दर्शन को संभवतः धर्म की नहीं , विज्ञान की संज्ञा मिलती ।

जैन धर्म स्वयं में एक पूर्ण विज्ञान है, इस बात को कहने से पूर्व, यहां विज्ञान की परिभाषा पर भी एक दृष्टि आवश्यक है । The Random House Dictionary के अनुसार **'सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा अर्जित भौतिक पदार्थों का संस्थित (व्यवस्थित) ज्ञान विज्ञान है ।'**[3] मगर यह सृष्टि तो केवल भौतिक वस्तुओं तक सीमित नहीं। द्रव्य जगत से भी अधिक महत्वपूर्ण अलग एक भाव जगत भी है । विज्ञान, जैसा कि इसकी परिभाषा कहती है, केवल द्रव्य जगत पर केंद्रित है, भाव जगत तो इसका विषय ही नहीं। यह सचमुच आश्चर्य की बात है । दूसरी ओर, जैन दर्शन केवल द्रव्य जगत का नहीं, केवल भाव जगत का भी नहीं, बल्कि दोनों के सूक्ष्मतम रूपों से साक्षात्कार करने का उपक्रम है । अध्यात्म का विषय संकुचित अर्थ में केवल भाव जगत बनता है मगर जैन दर्शन पदार्थ जगत की गवेषणा के माध्यम से भाव जगत के रहस्यों को अनावृत्त करता है और यही, विज्ञान की तरह, उसके बृहत् आकार का कारण है ।

ऊपर उल्लेखित नौ पदार्थ (तत्व) प्रकृति के दृश्य और अदृश्य सब घटकों का एक पूर्ण वृत्त है - एक संपूर्ण चक्र जो सुख और दुख एवं जन्म और मृत्यु का नियामक है। इस पृष्ठभूमि के साथ इन तत्त्वों का एक रहस्यमय तादात्म्य बिल्कुल तर्कसंगत और यथार्थ लगता है । उनके स्थूल स्वरूप को संक्षेप में इस तरह समझा जा सकता है -

1. जीव - चेतनामय अविभाज्य असंख्य प्रदेशी पिंड

2. अजीव - अचेतन पदार्थ
3. आस्रव - आत्मा की कर्म ग्रहण करने वाली अवस्था
4. बंध - आत्मा के साथ दूध-पानी की भाँति एकीभूत होने वाला कर्म पुद्गल समूह
5. संवर - आत्मा की कर्म निरोध करने वाली अवस्था
6. निर्जरा - आत्मा की कर्म क्षय करने वाली अवस्था
7. मोक्ष - कर्मों का अंतिम और स्थायी वियोग, आत्मस्वरूप का प्रकटीकरण
8. पुण्य - सुख देने वाला उदीयमान शुभ कर्म पुद्गल समूह
9. पाप - दुख देने वाला उदीयमान शुभ कर्म पुद्गल समूह

ये नौ पदार्थ जैन अध्यात्म विद्या के मुख्य तत्त्व हैं। इनमें से प्रथम दो दृश्यमान स्थूल जगत से संबंधित हैं। शेष सात अदृश्य मनोभाव है और सूक्ष्म जगत से संबंधित हैं। संपूर्ण जैन दर्शन स्थूल और सूक्ष्म इन नौ पदार्थों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर केंद्रित है पदार्थ की शाश्वतता और अंतर्निर्भरता एवं सापेक्षवाद जैसे विज्ञान के मूलभूत सिद्धांत जैन दर्शन की नींव में हैं। और इस विश्लेषण के माध्यम हैं। यहां प्रथम दो तत्त्व जीव और अजीव, जो भौतिक पदार्थ हैं और जो विज्ञान के भी विषय हैं, के वर्गीकरण पर भी एक दृष्टि डालना समीचीन होगा -

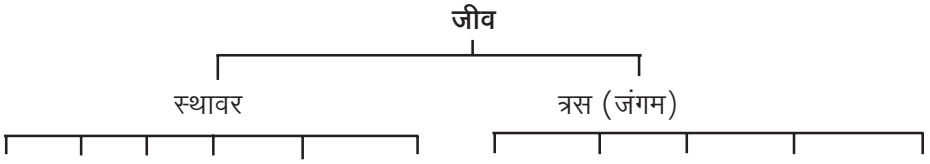

निगोद - एक देह एवं एक श्वास प्रक्रिया वाले अनन्त जीवों का समूह
एकेंद्रिय - आँखों से न दिखने वाले केवल स्पर्श संज्ञा युक्त जीव
द्वीन्द्रिय - स्पर्श और स्वाद, दो संज्ञा युक्त जीव
त्रीन्द्रिय - स्पर्श, स्वाद और घ्राण, तीन संज्ञा युक्त जीव
चतुरिन्द्रिय - स्पर्श, स्वाद, घ्राण और दृष्टि, चार संज्ञा युक्त जीव
पंचेन्द्रिय - स्पर्श, स्वाद, घ्राण, दृष्टि और श्रवण - पांचों संज्ञा एवं बौद्धिक सामर्थ्य युक्त जीव।
विश्लेषण और प्रभेद कर पाने की क्षमता एवं विवेक के कारण मनुष्य इनमें श्रेष्ठ है।

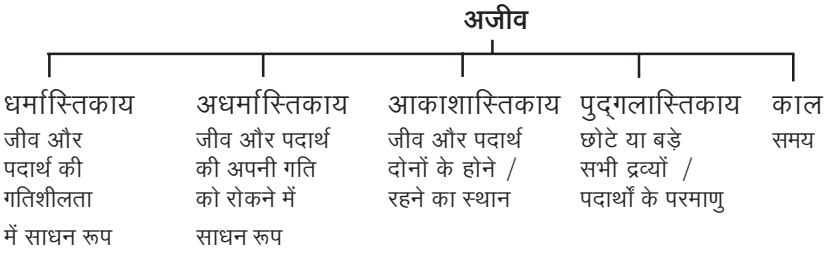

अजीव के ये पाँचों प्रकार (द्रव्य) शाश्वत हैं। ये कभी नष्ट नहीं होते।

अ, आ, ई आदि स्वर अक्षर और क, ख, ग आदि व्यंजन अक्षर संपूर्ण वर्णमाला है। इनके बाहर कोई शब्द नहीं, कोई ध्वनि नहीं। जैन दर्शन के ये नौ तत्त्व/पदार्थ भी इसी तरह अपने आप में पूर्ण हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड में उनके बाहर अन्य किसी चीज की कल्पना संभव नहीं। यह तथ्य ही अपने आप

में कितना विस्मयकारी है ? इन नव पदार्थों के 115 भेद, प्रभेद और उपभेदों का अवलोकन तो उन्हें खोज निकालने वाले व्यक्ति के अथाह ज्ञान और उसकी पारदर्शी दृष्टि के समक्ष जैसे सबको परास्त करता सा लगता है ।

जैन दर्शन विज्ञान है, इसीलिए उसमें जीव के साथ अजीव का भी इतना विशद विवेचन है । उसके दीर्घकाय होने का भी यही रहस्य है । विज्ञान अपनी खोज को समाप्ति तक चलता रहता है । तीर्थंकरों की दृष्टि भी छोटे-बड़े आकार पर नहीं, ज्ञान के अंतिम तार्किक निष्कर्ष पर रही । भौतिक, रसायन और प्राणिशास्त्र और इनकी शाखाओं और उपशाखाओं की आकाश गंगा में आदमी खो जाता है, जैन दर्शन की थाह भी उसी तरह सबके लिए सुगम नहीं बनी । विज्ञान का अपना कलेवर होता है । जैन धर्म का विस्तार भी उसका अपना नहीं, विज्ञान का है । भगवान महावीर ने तो उसे केवल खोजा था, गढ़ा नहीं ।

एलिजाबेथ शार्प ने जिन 'फ्लॉज' की ओर इंगित किया है, वस्तुतः वह जैन दर्शन के विज्ञान की ही तरह, सर्वगम्य और सर्वग्राह्य न बन पाने के कारणों की मीमांसा है ।

संदर्भ स्थल –

1. The Jain Philosophy is an almost perfect one, and the flaws in it are due rather to the largeness of the subject discused than to the philosophy. - Elizabeth Sharp

2. We give the name scientist to the type of man who has felt experiment to be a means guiding him to search out the deep truth of life, to lift a veil from its fascinating secrets, and who, in this pursuit, has felt arising within him a love for the mysteries of nature. so passionate as to annihilate the thought of himself. - Maria Montessory

3. Science - Systematic Knowledge of the Physical or Material world gained through abservation and experimentation - The Random House Dictionary of the English Language.

प्राप्तः 18.06.10

विगत वर्षों की भांति वर्ष 21 (2009) में प्रकाशित अर्हत् वचन के सभी अंकों में से 3 सर्वश्रेष्ठ आलेखों के चयन हेतु गठित त्रिसदस्यीय निर्णायक मण्डल की अनुशंसा के आधार पर निम्नवत् अर्हत् वचन पुरस्कार घोषित किये गये है ।

इसके अंतर्गत प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार प्राप्त आलेख के लेखकों को क्रमशः रुपए 5000, 3000 एवं 2000 की नकद राशि शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति से सम्मानित किया जायेगा ।

प्रथम पुरस्कार

Samayasāra Gāthā 3 and the Modern Science
Prof. P.M. Agrawal, Udaipur

द्वितीय पुरस्कार

Lure of Large Numbers
Dr. R.S. Shah, Pune

तृतीय पुरस्कार

Development of Mathematical Science Including Jaina Mathematics in the Periphery of Pātalīputra
Dr. Parmeshver Jha, Supaul

वर्ष 2010 के पुरस्कार शीघ्र घोषित किये जायेगे । 2011 में भी यह योजना गतिमान है । वर्ष 2009 एवं 2010 का पुरस्कार समर्पण समारोह अक्टूबर -2011 में आयोजित किया जायेगा ।

डॉ. अजित कासलीवाल — *प्रकाशक*
डॉ. अनुपम जैन — *सम्पादक*

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 35-42

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

तीर्थों के पीछे क्या है?

■ सूरजमल बोबरा *

समय काल सूचक भी होता है और जो एक साथ समस्त पदार्थों को जाने वह भी समय कहलाता है। दोनों अर्थ, दोनों परिभाषायें अपने-अपने परिप्रेक्ष्य के कारण भिन्न-भिन्न संदेश देती हैं।

जो गुजर चुका है उसको समझना ही तो इतिहास है। इसे समझने के लिए संदर्भ, प्रमाण और जो आज दिखाई दे रहा है उस प्रवाह का विश्लेषण यह तीनों मिलकर इतिहास की झलक देते हैं और विकास की दृष्टि से चिंतन उसे स्वरूप प्रदान करता है। विश्व की सभ्यताएं जो लुप्त हो गई हैं, उनको ढूँढने के प्रयास हुए हैं। कई पुरातात्विक स्थान हैं जो खंडहरों के रूप में हैं और धरती के गर्भ में समा गये हैं जिन्हें आधुनिकतम तकनीकी ज्ञान के सहयोग से अनावृत किया जा रहा है। एरियल फोटोग्राफी, विद्युत-चुंबकीय उपकरणों का प्रयोग, पेरिस्कोप का उपयोग और इन सब का अध्ययन, वृक्षों की बनावट में छिपी Botanical सूचनाएं, पूर्ववर्ती समाज के अवशेषों का 'Electron spin resonence dating' पद्धति से मूल्यांकन करना आदि कई आधुनिक पद्धतियों ने इतिहास के अध्ययन में सहायता दी है। समुद्री पुराविज्ञान ने भी कई खोजों में सहायता दी है। इनसे हमें सहायता लेना ही होगी। केवल भावचक्षु से देखने से काम नहीं चलेगा। अन्यथा जैन इतिहास, जैन पुराण, जैन दर्शन, जैन जीने की पद्धति धीरे-धीरे एक दायरे में कैद हो जायेगी।

वास्तव में संस्कृति के सृजक-विचारक रहे हैं किंतु उन्हें गतिमान रखने में तो आम मनुष्य ही रहा है। आज मनुष्य को बहुत सी कठिनाइयां रहती हैं। उसे संसार भी चलाना होता है और विचारकों के सोच को भी वहन करना होता है। इसके लिए उसे कोई मजबूर नहीं करता है वरन मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है। उसका मस्तिष्क सदैव चुनौती से घिरा रहने का आदी है।

आज विश्व इतिहास ने बहुत सी लुप्त हो गई सभ्यताओं के बारे में सूचनायें दी हैं। पर ऐसा क्या हुआ कि इन सभ्यताओं के केवल खंडहर ही रह गये हैं ? वास्तव में सौरमंडल और पृथ्वी दोनों ही घात-प्रतिघात करते हैं, अपनी बनावट बदल देते हैं, हवाओं के रुख बदल देते हैं। मनुष्य बार-बार इसे बनाता है, और ये बार-बार उलट-पुलट कर देते हैं। प्रकृति बार-बार चैलेंज करती है और मनुष्य इसे संवारता है, इस पर इतराता है और विनाश पर आवाक् सा देखता रह जाता है। फिर वही क्रम जारी हो जाता है। यह प्रक्रिया सृष्टि की प्रत्येक वस्तु या हिस्से पर लागू होती है। यह पुनः दोहराया जाता है। यह अमिट सत्य है।

* निदेशक – ज्ञानोदय फाउण्डेशन, 9/2, स्नेहलतागंज, इन्दौर – 452005

जब जैन चिंतन ने आकार ग्रहण करना प्रारंभ किया तो संभवतः यह पहला सत्य था, जो चिंतकों के दिमाग में अनावृत हुआ। कालांतर में जब शब्द अभिव्यक्ति प्रभावकारी हुई तो इसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के रूप में रेखांकित किया गया और किसी आचार्य ने इसे 'नय सिद्धांत' के रूप में समझाया। इतनी सारी सभ्यताओं का पहले होना और अब नहीं होना - इसी बात का प्रमाण है कि परिवर्तन सदैव होता रहता है और इस तथ्य को तार्किक रूप में समझा जाना चाहिए। इन्हीं संदर्भों को ध्यान में रखते हुए हम भारत की सभ्यता और उसके सांस्कृतिक विकास पर ध्यान देने का प्रयास करेगें ।

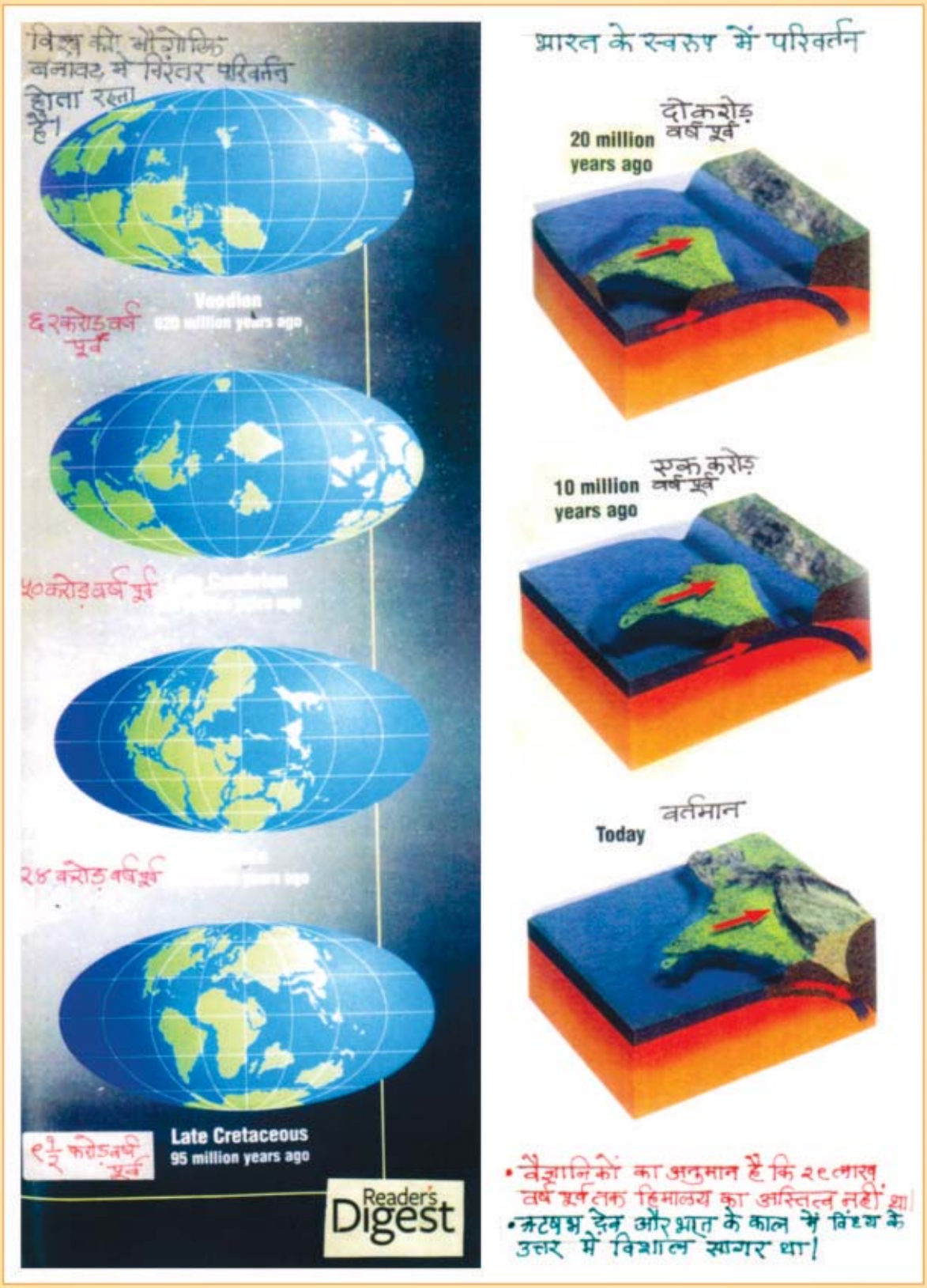
विश्व की भौगोलिक बनावट मे निरंतर परिवर्तन होता रहा है।
Vendian
620 million years ago
६२ करोड़ वर्ष पूर्व
५० करोड़ वर्ष पूर्व
२४ करोड़ वर्ष पूर्व
९½ करोड़ वर्ष पूर्व
Late Cretaceous
95 million years ago
Reader's Digest
भारत के स्वरूप में परिवर्तन
20 million years ago
दो करोड़ वर्ष पूर्व
10 million years ago
एक करोड़ वर्ष पूर्व
Today
वर्तमान
• वैज्ञानिकों का अनुमान है कि २९ लाख वर्ष पूर्व तक हिमालय का अस्तित्व नहीं था।
• ऋषभ देव और भरत के काल में विंध्य के उत्तर में विशाल सागर था।

चित्र क्र. 1

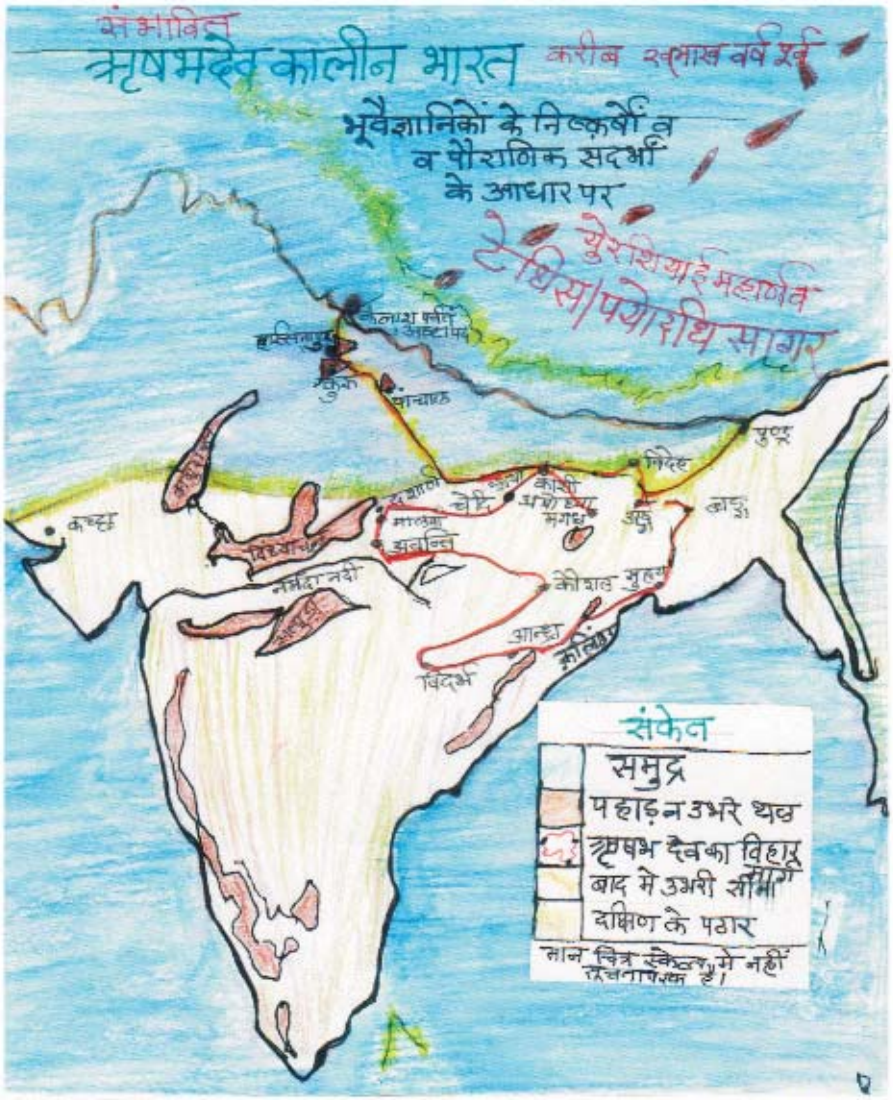

● उत्तर में एक अति विस्तृत युरेशियाई महार्णव, जिसे टेथिस या पयोदधि के नाम से पुकारते हैं, उस सारे भूखंड पर छाया हुआ था जो मध्य युरोप से लेकर लघु एशिया, उत्तरी भारत और बर्मा तक फैला हुआ था। इस समुद्र में छुट्टा आने जाने के मार्ग थे, उन्ही के कारण चीन, मध्य हिमालय और बर्मा जैसे विलग प्रदेशों से प्राप्त जीवाश्म चिन्हों में परस्पर समानता पाई जाती है। बहुत अरसे के बाद पहाड़ों के तक्षण करने वाले धक्कों का अनुभव हुआ। पाथोदि समुद्र (टेथिस) पश्चिम की ओर हटा और उसकी तलहटी उभर आई और उसके दोनो किनारों की भूमि एक दूसरे से मिल गई। उन किनारों के बीच में जो मुलायम समुद्री धरती थी उसमे सिकुड़नों के पड़ने और कुचलने से भारत के हिमालय, ईरान के पहाड़, कार्पेथिया के पर्वत और आल्पस पर्वतों का निर्माण हुआ।

● राधाकुमुद मुखर्जी (प्रसिद्ध इतिहासकार)
'हिन्दू सभ्यता' से साभार

चित्र क्र. 2

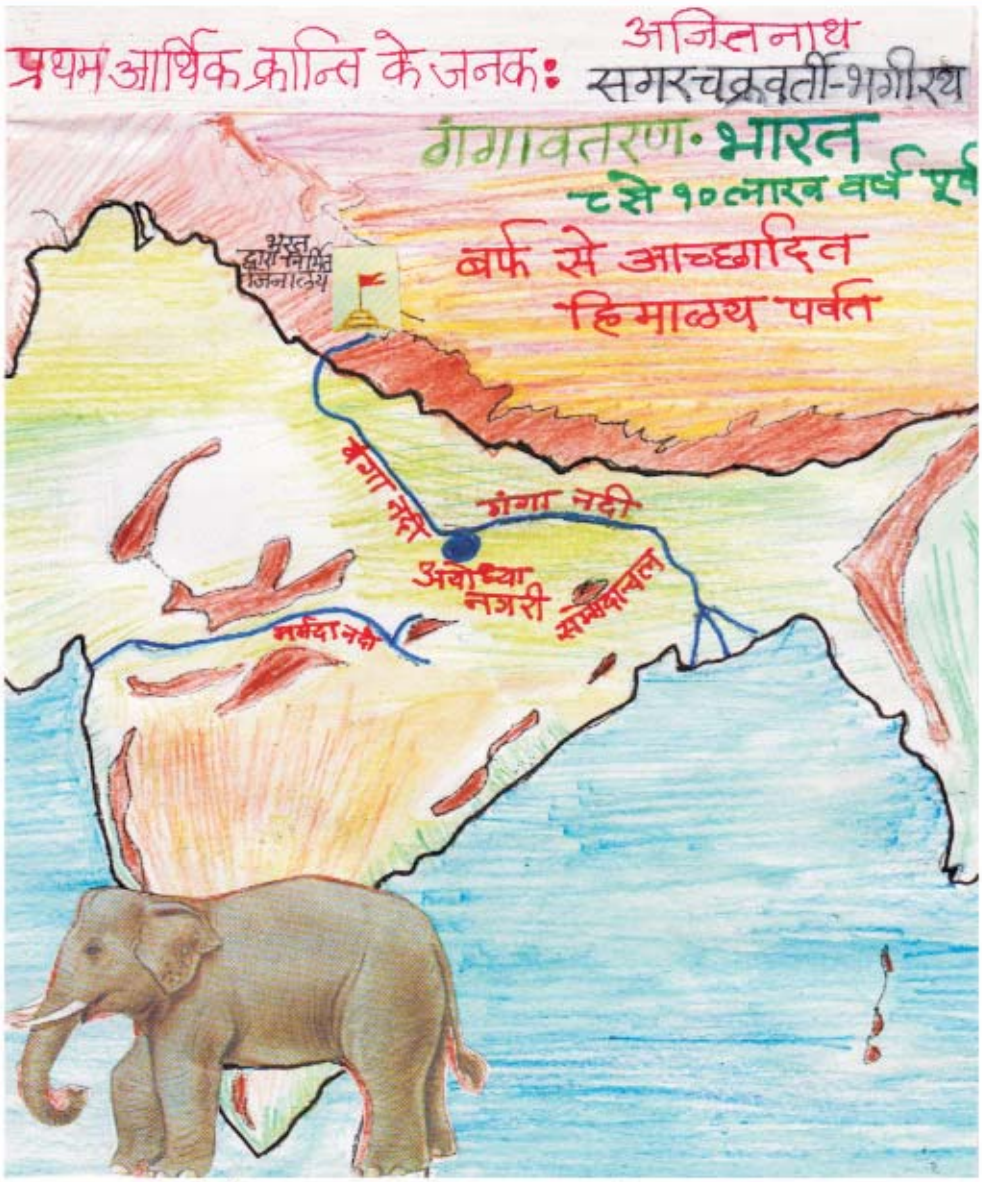

गंगावतरण, महाकवि पुष्पदन्त (ईस्वी शताब्दी १०वीं-उत्तरार्ध) की अविस्मरणीय अभिव्यक्ति है। यह इतिहास व साहित्य का अनोखा संगम है। टीथिस या पयोदधि सागर के उत्तर मे हिमपर्वत और नर्मदा के ऊपर के भाग मे मैदान के रूप मे बदलने के पश्चात मैदानी भाग म पानी की अत्यधिक कमी होगई। जीवन को पल्लवित करने के लिए सगरचक्रवर्ती ने हिमालय के जलस्त्रोतों को धरती पर प्रवाहित करने का निर्णय किया। सगर पुत्रों की ब्रिगेड ने भगीरथ के नेतृत्व मे गंगावतरण किया। हिमालय ने अपने हृदय का अमृत भारत भूमि को भेंट कर दिया। इसी गंगावतरण ने गंगा सिंधु का ~~अम~~ उपजाऊ मैदान बनाया। यह गंगावतरण प्रथम आर्थिक क्रान्ति का जनक बना।

चित्र क्र.3

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 43-46

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

ग्वालियर दुर्ग एक जैन तीर्थ स्थल

■ जया जैन *

सारांश

प्रसिद्ध जैन तीर्थ गोपाचल पर बनी विशाल जैन प्रतिमाओं का सूक्ष्म अवलोकन करने पर यह विदित होता है कि यहां तीर्थंकर के पांचों कल्याणकों का चित्रण किया गया है। किन्तु अन्य प्रतिमा समूहों से बाहर होने के कारण शोध प्रबंधों एवं इतिहास की पुस्तकों में इनका उल्लेख अत्यल्प मिलता है। प्रस्तुत आलेख में ऐसी प्रतिमाओं को चिन्हित कर उनका विवेचन किया गया है।

- सम्पादक

भारत के दुर्गों की मणिमाला का मणि ग्वालियर दुर्ग वीरता, वीतरागता, कला, शिल्प एवं आध्यात्मिकता की अमूल्य निधि है। ग्वालियर दुर्ग भारत के हृदय स्थल मध्यप्रदेश के प्राचीनतम क्षेत्र ग्वालियर में एक स्वतन्त्र पहाड़ी पर स्थित है।

ग्वालियर दुर्ग का विस्तार जमीन से 90 मीटर ऊँची पहाड़ी पर उत्तर से दक्षिण 2.8 किलोमीटर और पूर्व पश्चिम में 180-184 मीटर के बीच फैला है। इस स्थल को गोपादि, गोपाचल व गोपागिरि के नाम से भी जाना जाता है।

प्राचीन काल से ही ग्वालियर क्षेत्र के साथ अनेकानेक, साम्राज्यों , कई महत्वपूर्ण राजघरानों का समय समय पर निकट का संबंध रहा। ग्वालियर की सांस्कृतिक परम्पराओं को सुदृढ़ बनाने में तोमर शासकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। ग्वालियर के तोमरों की धार्मिक क्षेत्र में उदार नीति का प्रस्फुटन तोमर वंश के पराक्रमी राजा डुगेन्द्रसिंह व कीर्तिसिंह के समय विशेष रूप से रहा। डुगेन्द्रसिंह (वि.सं. 1481) तोमर वंश के महानतम राजाओं में से थे। वे पराक्रमी भी थे और साहित्य, कला, संगीत के आश्रयदाता भी। इस समय कला अपनी उन्नति के शिखर पर पहुंची थी। चौदहवीं, पंद्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर जैन कला की प्रखर गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा। जैन तीर्थंकरों की विशाल प्रतिमाओं व गुहा मन्दिरों का निर्माण ग्वालियर दुर्ग की चट्टानों पर करवाया, जो संख्या में 1500 के लगभग हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी की तीर्थंकर प्रतिमा में 57 फुट ऊँची खड्गासन भगवान आदिनाथ की प्रतिमा है, विशालता के कारण बावनगजा के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्वालियर दुर्ग के उरवाई गेट के दक्षिण ओर में है। यहां 22 जैन तीर्थंकर मूर्तियां हैं, जिनमें क्रम संख्या 17, 20 व 22 प्रमुख हैं। क्रम संख्या 17 आदिनाथ भगवान की विशाल प्रतिमा है व क्रम संख्या 22 में नेमिनाथ भगवान की 30 फीट ऊँची है। वहीं दक्षिण पूर्व फूलबाग गेट (एक पत्थर की बावड़ी) ग्वालियर दुर्ग पर पार्श्वनाथ भगवान की अतिशय युक्त मनोहारी पद्मासन मुद्रा में विश्व की सबसे विशाल 42 फुट ऊँची तथा 30 फुट चौड़ी प्रतिमा है। अधिकांश प्रतिमाओं को मुगल शासकों के क्रूर हाथों ने खण्डित करने का प्रयास किया, किन्तु पार्श्वनाथ भगवान की विशालता को देखकर भाग खड़े हुये थे। इस प्रकार अनेक गाथाएं एवं किवंदतियां इस क्षेत्र के बारे में प्रचलित है। जनश्रुति प्रचलित है कि जो कोई

* प्राध्यापिका (चित्रकला), के.आर.जी. कॉलेज, ग्वालियर (म.प्र.) निवास : F-3 शासकीय आवास, कम्पू., ग्वालियर (म.प्र.)

शुद्ध मन, वचन, कार्य से भक्तिपूर्वक गोपाचल पार्श्वनाथ के दर्शन करता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। अतः गोपाचल अतिशत क्षेत्र है। ग्वालियर दुर्ग पर उत्कीर्ण तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान के पांचों कल्याणकों भी शिल्पांकित किया गया है। दुर्ग परिधि के परिकोटे के बाहर होने की वजह से अन्य प्रतिमा समूहों की अपेक्षा उपेक्षित पंच कल्याणक प्रतिमा समूहों का उल्लेख बहुत ही अल्प मात्रा में ऐतिहासिक ग्रंथों व शोध प्रबंधों में मिलता है, जबकि यह पृथक से शोध का विषय है।

उरवाई गेट से 200 मीटर पहले दाएं हाथ पर 108 सीढ़ियां चढ़कर शैल गुफा मंदिर है। इन गुफा मंदिरों का निर्माण शास्त्र सम्मत परिकल्पना के आधार पर ही हुआ है। शैल गुफा मंदिरों में क्रमबद्ध रूप से तीर्थंकर के पांचों कल्याणकों को दर्शाया गया है।

पंच कल्याणक तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण की पंच अवस्थाओं को कहा जाता है। प्रत्येक अवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण व कल्याणकारी होती है। इन पंच कल्याणक को स्वर्गों के दे व व मनुष्य अत्यंत हर्ष से मनाते हैं।

गर्भ कल्याणक -

तीर्थंकर भगवान के गर्भावतरण होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर रत्नों की वर्षा करते हैं। गर्भ में आने पर उनकी माता को 16 शुभ स्वप्न दिखते हैं। इसी गर्भ कल्याणक अवस्था को दर्शाती है। प्रथम गुफा।

इसमें तीर्थंकर माता की लगभग 8 फीट लम्बी लेटी हुई निन्द्रावस्था की प्रतिमा है। यह प्रतिमा त्रिशला माता की मानी जाती है। दक्षिण की ओर मस्तक व मुख पश्चिम की ओर है, जो करवट की मुद्रा में है। दायां पैर बाएं पैर के ऊपर हैं बाएं हाथ को सिर के नीचे रखे हुई हैं व दाएं हाथ को दाएं पैर के ऊपर रखे है। अनुपातिक दृष्टि से उच्च स्तर की सुन्दर प्रतिमा है, मुख मुद्रा शांत व सौम्य है, आंखें बड़ी व निन्द्रामग्न है, भौहें धनुषाकार हैं। मुख ठोड़ी पर से थोड़ा खण्डित है। दायां हाथ बांह के बीच में खण्डित है, उंगलियां पांचों दिख रही हैं, अन्य खण्डित हैं। दाएं पैर की सभी उंगलियां खण्डित है। आभूषणों से सुसज्जित हैं, कानों में कुण्डल, गले में मोतियों से जड़ित कंठी व उदर बंध तक लटकी मोतियों की माला है - कटिसूत्र। हाथों में कंगन है। केश सज्जा दक्षिण भारतीय शैली में केशाभूषणों में सूर्य, चन्द्र, पुष्प अंकित है, हाथों में बाजूबंद है। माता के मस्तक के सहारे एक परिचारिका बैठी है, एक अन्य परिचारिका माता के पैर को गोद में लिए हुए है। माता की पृष्ठभूमि में तीर्थंकर प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में है। ऊपर तीन छत्र है, उनके पास में दो मृदंग उकेरे गये हैं। दो-दो युगल देव प्रतिमाओं को उनके विमान में दर्शाया है। तीर्थंकर की प्रतिमा सिंहासन वेदी पर दो शेर अंकित हैं। वेदी के दांए-बांए एक-एक चंवर धारी चंवर ढ़ोते हुए व दो जोड़े युगल के दर्शाये हैं। इस गुफा में संवत् 1558 उत्कीर्ण किया हुआ है, मात्र एक लाईन में और टूटी-फूटी भाषा में होने से समय निर्धारण करने में भ्रम उत्पन्न होता है। माता व परिचारिकाओं पर ओपदार पॉलिश है। माता के मुख मण्डल की आभा बरबस ही आकर्षित करती है। वर्तमान में मान्यता स्वरूप सूखे रोग से पीड़ित बच्चे को आशीर्वाद दिलाने परिवार जन शनिवार व रविवार के दिन आते हैं व पुष्पमाला आदि से पूजा करते है। (चित्र संख्या - 1)

जन्म कल्याणक –

तीर्थंकर भगवान के जन्म होने पर इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर मायामयी बालक को माता के पास रखकर बालक प्रभु को लाती हैं, कुबेर रत्नों की वर्षा करते हैं व इन्द्रों द्वारा बालक को सुमेरु पर्वत के ऊपर ले जाकर 1008 कलशों से अभिषेक करके जन्म कल्याणक मनाया जाता है, दूसरी गुफा में जन्म कल्याणक रचना को दर्शाया गया है। कुबेर व इन्द्राणी लगभग 4 फीट की बैठी प्रतिमा है, इन्द्राणी भाव विह्वल मुद्रा में अर्धपर्कासन में सिंह आसन पर आरूढ़ है। एक बालक को बाएं हाथ से पकड़े हुए गोद में बिठाया हुआ है, दूसरा बालक खड़ा है, इन्द्राणी भी आभूषणों से सुसज्जित हैं। इन्द्राणी के दाएं-बाएं एक-एक चंवरधारी प्रतिमा चंवर ढ़ोते दिखाये है। इन्द्राणी बाएं तरफ व कुबेर दाएं तरफ बनाये गये है। कुबेर रत्नों की वर्षा कर रहे है। कुबेर की पृष्ठभूमि में पांडुकशिला पर भगवान के कलशाभिषेक को दर्शाया है। इन्द्राणी की पृष्ठभूमि में अशोक वृक्ष व तीर्थंकर का अंकन है। कुबेर की प्रतिमा खण्डित अवस्था में है। इन्द्राणी के हाथ खण्डित हैं। मुख भी दोनों प्रतिमाओं का आंशिक रुप से खण्डित हो रहा है, इन्द्राणी व कुबेर के पीछे भामण्डल रेखा से उकेरा गया है। इन्द्राणी का दायां पैर जो नीचे है, वह पद्मपीठ पर रखा है। (चित्र संख्या - 2)

तप कल्याणक –

तीर्थंकर प्रभु वैराग्य होने पर वस्त्रादि का त्याग करके आत्म ध्यान में लीन हो जाते हैं। तप कल्याणक को प्रतिबिम्बित करती तीसरी गुफा में तीर्थंकर भगवान की लगभग 3-4 फुट लम्बी खडगासन प्रतिमा तपश्चर्या करते दर्शायी है। प्रतिमा को आसन पर नहीं बनाया है, जिससे वह तप कल्याणक को ही दर्शाती है। ऊपर छत्र के लिए छोड़ा गया पाषाण है, दो चंवरधारी चंवर ढ़ोते दर्शाये गये हैं, भामण्डल आंशिक रूप से उकेरा गया है। (चित्र संख्या - 3)

ज्ञान कल्याणक –

तीर्थंकर भगवान के घोर तपश्चर्या करने के पश्चात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय व अन्तराय कर्म के नष्ट होने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है व देव समवशरण की रचना करते हैं। ज्ञान कल्याणक की रचना को चौथी गुफा में प्रतिबिम्बित किया है। लगभग साढ़े चार फीट पद्मासन मुद्रा में छत्र, भामण्डल, सिंहासन, चंवर ढ़ोते चंवरधारी पृष्ठभाग में दो जोड़े युगल देवों के दर्शाये गये हैं। सिंहासन पर दो शेर अंकित है, जिसके आधार पर विद्वान तीर्थंकर महावीर के ज्ञान कल्याणक को मानते हैं। (चित्र संख्या - 4)

मोक्ष कल्याणक –

आठों कर्मों के नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष कल्याणक प्रतीक स्वरूप पांचवीं गुफा में दर्शाया है। मुख्य प्रतिमा लगभग 7-8 फीट की खड़गासन में है, प्रतिमा के दाएं-बाएं 2 फीट की पद्मासन मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा है, जिसमें दोनों ओर सिद्धकूट के चिन्ह अंकित हैं। इन प्रतिमा समूह को मन्दिर में स्थापित प्रतिमा समूह के समान बनाया है। (चित्र संख्या - 5)

अतः यह सम्पूर्ण श्रंखला क्रमबद्ध रूप से तीर्थंकर के पांचों कल्याणको दर्शाने में अहम् भूमिका निभा रही है। वास्तव में ग्वालियर दुर्ग कला स्थापत्य की तीर्थस्थली व अनमोल धरोहर है।

गोपाचल पर प्रकाशित 2 महत्वपूर्ण पुस्तकें

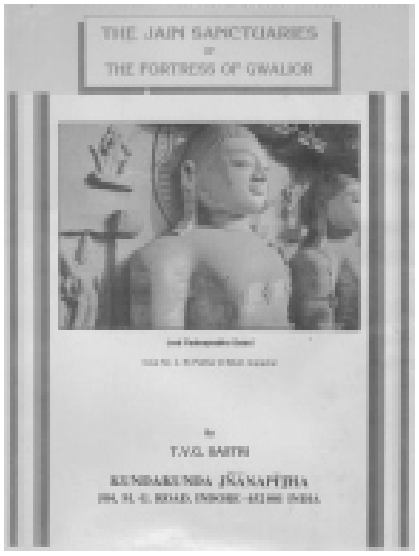

The Jain Sanctuaries of the fortress of Gwalior
by Dr. T.V.G. Shastāri.
Kundakunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Indore, 452001
First Edition, 1997
Price - Rs. 500.00

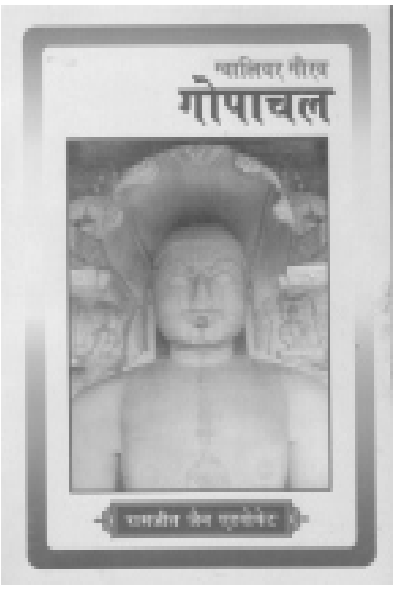

ग्वालियर गौरव – गोपाचल
द्वारा – श्री रामजीत जैन एडवोकेट
श्री कैलाशचन्द जैन चेरिटेबल मेमोरियल सोसायटी
ग्वालियर - 9
द्वितीय संस्करण - 2007
मू. - रुपए - 51.00

संदर्भ ग्रंथ -

1. दुबे दीनानाथ, भारत के दुर्ग, पृष्ठ 121
2. द्विवेदी हरिहर, निवास तोमरों का इतिहास, पृष्ठ 426
3. जैन रामजीत, ग्वालियर गौरव गोपाचल, पृष्ठ 34-40
4. वहीं, पृष्ठ 62-64
5. वहीं, 3 पृष्ठ 65

प्राप्तः 06.05.11

Vol. - 23, Issue 3, July - September 2011, 47-54

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indorer

Symbolism in Jaina Literature

■ Anupam Jain *

Abstract

Ṭodaramala (c. 1720-1767 A.D.) of Jaipur compiled two chapters on the norms of symbolism (Artha Saṃdṛṣṭi Adhikāras) from some earlier Saṁskṛta and Kannaḍa commentaries, ranging from the 13th to 16th century A.D. These commentaries were written by Keśava Varṇī and Nemicandra Jñānabūṣaṇa on the philosophical texts, the Gommatasāra and the Labdhisāra, which summarize the Karma System Theory. In the commentaries, mathematical symbolism is embedded without any exposition.

Three type of Symbols; numerical, algebric and geometrical have been used profusely, carrying implications of methematico scientific purport. Symbolism is naive and multipurpose, creating confusion when read without context or relevence. Specific mention may be made of the operational symbolism used in place value notation for substraction, in logarithims as well as in geometric forms.

1. Introduction :

On a survey of the development of symbolism in the Jaina School of Mathematics[1] one may find the three types of phases : rhetoric, syncope and symbolic. They are respectively observed in the Ṣaṭkhaṇḍāgama[2] (1-2 C.A.D.), the Dhavalā[3] (9th C.A.D.) and the Tiloyapaṇṇattī[4] (4-7th C.A.D.) as well as the Jīvatattvapradīpikā[5] (16th C.A.D.) (along with the Arthasaṃṛṣṭi[6] of Ṭoḍaramala)[7]. The Arthasaṃdṛṣṭi of the Gommaṭasāra (abbr. ASG) predominates in the numerical and algebraic symbols. The Arthasaṃdṛṣṭi of the Labdhisāra[8] (abbr. ASL), however, includes geometric symbols in additon, quite profusely.

It is evident from the treatment of Vīrasena in the Dhavalā Commentary[9] that operational symbolism might have been developed by the school, although no such work is available now. The earlier works also contain the same material, condensed in compact sūtras in the Ṣaṭkhaṇḍāgama. The symbols give the account of the post universal measures (lokottara Pramāṇa)[10]. They will be analysed in what follows in brief. The symbolism in the Labdhisāra may be a topic for detailed study in future.

* Professor of Mathematics and Hony. Secretary Kundakunda Jñānapīṭha, 584, M.G. Road, Indore - 452001

2. CIRCLE AS A SYMBOL

A small circle[11] has been used for the following purposes :

1. It stands for a negative sign. Ṭoḍaramala Quotes its use in the following form[12]. The expression for one crore less one is को The expression for crore less two is को

2. It stands for one-sensed bios, two sensed bios etc., denoted by o, oo, ..., respectively. This has been depicted in a diagrammatically symbolic representation in the Dhavalā of Vīrasena[13].

3. It stands for the agṛhīta (non-assimilative) stage in which a bios does not assimilate kārmic particles during a material change (pudgala Parāvartana)[14]. here the symbol denotes a void. Ṭoḍaramala has also made use of this aspect.

4. It stands for filling up gaps. This appears in the writting of Mahābandhasūtras[15]. Here zeros have been placed after every incomplete sūtra signifing bridging. This use also appears in the Arthasaṃdṛṣṭi in the input column of nisusus (niṣekas) in the life stay (sthiti) structure of karma[16].

5. It stands for a place value :

a. In The Tiloyapaṇṇattī, SO stands for the expression that three zeros may be placed after the product which may denote a product by 1000.[17]

b. Ṭoḍramala expresses the following way in which 65000 were written.[18] as[16] ६५

c. In the Ṣaṭkhaṇḍāgama[19] the number or a particular type of human beings is stated as greater then koḍā-koḍā-koḍī, $(10^7)^3$ and less then koḍā-koḍā-kodā-koḍī $(10^7)^4$.

In Tiloyapaṇṇattī a lac yojan is denoted by जो. १००००

The same is simultaneously quoted to be between 2^{2^6} and 2^{2^7} which appear to be Neo-Pythagorean. Singh has remarked[20] it. Now Vīrasena quotes verses Representing various styles for expressing big number[21]. It is also interesting to see how words and numbers signified a number 61, 97, 08, 46, 66, 81, 64, 16, 20, 00, 00, 000, in the form of a verse qouted from some ancient work by Vīrasena[22].

In the Tiloyapaṇṇattī, the author while denominating time-units stops at the acalātma for a while, i.e. $(84)^{31}$ $(10)^{90}$ years. The number finds expression as ८४/३१/९०. Here 31 Stands for the power of 84, and 90 stands for 90 zeros to be placed after the terms as place values[23]. Ṭoḍaramala has also used this symbolism of raising to power for example a volume appears as.

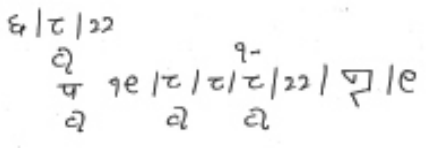

will be interpreted by Prof. L.C. Jain in the following way

$$\frac{F^3\left(\frac{T^3}{A}\right)^{22}}{\left(\frac{P}{A}\right)^{19}\left(\frac{T^3}{A}\right)^{8}\left(1+\frac{T^3}{A}\right)^{22}(S)^9}$$

Where F is the set of points in finger width/angula
T is the set of instants in Trial period (āvalī)
A is the ordinal asṃkhyāta
S is the ordinal saṃkhyāta
P is the set of instants in palya period.

3. PLACE VALUE NOTATION FOR SUBTRACTION -

This notation has been used in the Tiloyapaṇṇattī[25], Ṭoḍaramala has exposed the method in the following[26]. The expression ल/५/४/३ denotes the product ल×५×४×३.

If ल or one lac is subtracted from this, then the remaining quantity is written as ल $^{९}\frac{८}{५/४/३}$

The quantity less 5 lacs is denoted as ल $५/४/^{९}\frac{८}{३}$

The quantity less 20 lacs is denoted as ल $५/४/^{९}\frac{८}{३}$

The quantity less 3 lacs is denoted as ल $^{३}५/४/\frac{८}{३}$

The quantity less 12 lacs is denoted as ^{९}ल $^{८}५/४/३$

The quantity less 15 lacs is denoted as ल $५/^{९}\frac{८}{४}/३$

The quantity less 30 lacs is denoted as ल $५/^{२}\frac{८}{४}/३$

Then ल/४/३ less 12 is denoted as ^{९}ल $^{८}५/४/३$

The place value notation for subtraction has also been used for fractional and other types of quantities as well.

4. OTHER MULTIPURPOSE SYMBOLS -

The same symbol has been found to be used for various purposes and it might have been a tough task for Ṭoḍaramala to differentiate between its various norms at different context. The following are a few instances of such symbols:

1. A single horizontal bar, (–) stands for
   a. A universe line (jagaśreṇī) or a distance of seven rājūs (ropes) in the sense of a set of points.[27]
   b. A positive sign, as in $\frac{१}{व}$ - $\frac{}{२}$ which denotes $\{\log_2 \log_2 (\text{anguls})+1\}$ where aṅgula denotes the set of points in the aṅgula (finger) width.[28]
   c. A negative sign, as in ल–२ which denotes a lac less two.[29]
   d. The term slightly less, as in ख– which means slightly less than infinite.[30]
2. A pair of horizontal bars = stands for
   a. Filling up gaps, for instance, 65 = is written for 65536 and ज = denotes जघन्य minimum (jaghanya)[31].
   b. Universe - line square (jagapratara) or 49 square rājus in forms of sets of points.[32]
3. २ stands for
   a. The minimum numerate two (jaghanya saṃkhyāta.[33])
   b. The number 2
   c. The trail (āvalī) set of instants which is minimum yoked innumerate (jaghanya yukta asaṃkhyāta)[34]
   d. The set of points in a linear finger width (sūcī aṅgula).[35]
4. A vertical bar (/) stands for
   a. Product for instance, १६/२ denotes the product of 16 (which stands for jaghanya parīta asaṃkhyāta.[36] and 2
   b. Denoting a slightly less quantity than what its actual value is, say, ख means slightly less then infinite.[37]
   c. Denoting addition, particularly in case of fractions, eg., $१/\frac{१}{२}$ means 3/2[38]
   d. Denoting a time-lag trail (ābādhāvalī) or an invariant trail (aclāvalī).[39]
5. १६ Stands for
   a. Minimum perdu innumerate (jaghanya parīta asaṃkhyāta) which is greater than maximum numerate (utkṛṣṭa saṃkhyāta) by unity.[40]
   b. Medium infinite (madhyama ananta ananta) as also the total number of bios in the universe.[41]

6. व Stands for

a. The operation of squaring the preceding term, for instance, ज॥ ज॥ ज॥ व means. maximum yoked infinite (utkṛṣṭa yukta ananta) of minimum infinite (jaghanya ananta ananta) less one. Now ज जु अ is jaghanya yukta anata whose square is jaghanya ananta ananta of ज जु अ व [42]

b. $\log_2 (\log_2 (palya))$[43] Now छे stand for $\log_2$ (palya). Further $\log_2$ (aṅgula) is written as छे छे. Thus it appears that they had the idea of function of a function but they did not evolve the modern type of symbol for it.

7. ४ stands for

a. Square of set of points in a linear finger (pratarāṅgula)[44]

b. Square of set of instants in a trail measure (pratarāvalī)[45]

For the negative sign the following symbols appear in various texts;

a. ८ for instance $१\frac{८}{२}$ stands for jaghanya yukta asaṃkhyāta minus one or utkṛṣṭa parīta asaṃkhyāta which is maximum perdu innumerate.[46]

b. — for instance ल-2 stands for a lac less two.[47]

c. ⌒ for instance क्रो⌒२ stands for a crore less two.[48]

d. $\overset{०}{\underset{=}{२}}$ denote the set of points in the universe line cube (ghana lika) less two. similarly $\overset{ल}{\underset{१}{०}}$ lac less one.[49]

e. ◡ or) for instance ल ◡ ५ or ल$_{५}$) stand for a lac less five.[50]

f. The KāKapada (crow's paw) - + sign has been used by Vīrasena. It has also occured in the Bakṣālī manuscript.[51]

g. रि or रिण for instance १४३/रि. यो १००००००/^{३}

These symbols as also the symbol in (a) has been used in the Tiloyapaṇṇattī.[52] In (a), (f) and (g) the symbol रि appears to be an original source of + , ... or रिण→रि→ई→+ might have been the course for the synopic evolution of +

The horizontal bar appears to be of the period of Nānāghāṭa Inscriptions.[54] For the positive sign the following symbols occur :

a) A horizontal bar,— as already noted.

b) The word ध ण (plus), has been used in the Tiloyapaṇṇattī.[55]

There are a few other symbols which are common in the Tiloyapaṇṇattī. and the Arthasaṃdṛṣṭi. For instance मू, प, व, १, १६ etc. मू stands for the square root as an operational symbol which also occurs in the Bakṣālī manuscript.[56] Ṭoḍaramala introduses के मू for the first square root of the set of

indivisible - corresponding - sections of omniscience where as के मू 2 stands for the square root of the square root. Here is agian the concept of function of a fuction.[57]

This list of the symbols also give an idea of the use of symbols like ञ्ञ (innumerate). सं saṃkhyāta. etc. which appear to be syncopated from Brāhmī script.[58]

CONCLUDING REMARKS

The multipurpose symbolism seem to have created a confusion, but as they were cast for particular contexts at different places, they could be easily recognized for the context. This might have facilitated the studies for they could work with the least possible symbols. However it was matter of disadvantage as well as and might have been responsible for hampering further analytical stucies.[59]

Acknowledgement

Author is thankful to Prof. L.C. Jain, Jabalpur for providing neseccary guidence and reference material for this study. Material provided by Prof. L.C. Jain used in this article.

REFERENCES AND NOTES

1. The following works may be useful for comparison :
   a) Datta. B.B., Singh, A.N., History of Hindu Mathematics, Part I and II, Combined Edition Bombay, 1962.
   b) Bose. D.M., Sen, S.N., Subbarayappa, B.V., A concise History of Sciences in India, INSA, New Delhi, 1971.
   c) Datta, B.B., The Bakṣālī Mathematics, B.C.M.S., 21, 1-60, 1929.
   d) Datta, B.B., The Science of Sulba, Calcutta University, 1932
   e) Singh, A.N., Mathematics of Dhavalā I, Ṣaṭkhaṇḍāgama, Vol. 4, Amaraoti, 1942, v-xxi.
   f) Jain, L.C., Tiloyapaṇṇattī kā Gaṇita, Sholapur, 1958.
   g) Jain L.C. Mathematical Content of Digambara Jain Texts of Karṇanuyoga Group, Vol. I, II Kundakunda Jñānapīṭha, Indore,
   h) Bag, A.K., Symbol of Zero in mathematical notion in India, Primer Congreso Argentino De Historia, De La Academic Nac. de ciencias, cordoba, T.48, 1970.
   i) Bag, A.K., The knowledge of Geometical Figures, Instruments and Units in the Sulbsūtras, "East and West", (New Series, vol. 21, nos. 1-2, 1971), Ismeo, 248, Rome.
   j) Shukla, K.S., Hindu Mathematics in the Seventh Century as found in Bhāskara I's commentary on the Āryabhaṭīya, Gaṇita, Vol. 22 no. 1, 1971, 115-130.
   k) Saraswati, T.A., The Mathematics in the first four Mahādhikāras or the Trilokaprajñapti, JG.R.I., 18 (1961-62), 27-51.
   l) Gupta, R.C., Circumference of the Jambūdvīpa in Jaina Cosmography, I.J.H.S., 10, 1975, 38-56.
2. Puṣpadanta, Bhūtabali, Ṣaṭkhaṇḍāgama, vols., 1-16, Amaraoti etc., 1939-1959, edited by H.L. Jain, etc.

3. Vīrasena, Dhavalā Commentary of the Ṣaṭkhaṇḍāgama, as above.
4. Yativṛṣabha, Tiloyapaṇṇattī, part I (1943), part II (1951), ed. A.N. Upadhye and H.L. Jain, Solapur.
5. Jīvatattvapradīpikā Commentary of the Gommaṭasāra by keśava Varṇuī (kannaḍa) and Nemicandra (Sanskrit), Calcutta, 1919 c.
6. Arthasaṃdṛṣṭi of Ṭoḍaramala, in the same publication as above.
7. Ṭoḍaramala of Jaipur has frankly admitted that he had to understand the symbolism himself as there was no teacher in his time to explain the symbolism. For this he went through various readings. Consequently he has remarked that his interpretations and purports may be subject to research, (p.1), Arthasaṃdṛṣṭi of the Gommaṭasāra in the same publication (5).
8. Gommaṭasāra, and Labdhisāra of Nemicandra Siddhāntacakravartī, with the commentary of Ṭoḍaramal, Calcutta, c. 1919, ed. G.L. Jain and S.L. Jain. We shall abbreviate the Arthasaṃdṛṣṭi chaptors of these as ASG and ASL.
9. Cf. (3).
10. a) Jain, L.C., on Cettain Mathematical Topics of the Dhavalā Texts. I.J.H.S., Vol. 2, 1976, 85-111.
    b) Jain, L.C., Divergent Sequences locating Transfinite Sets in Trilokasāra, I.J.H.S., 12 (1), 1977, 57-75.
    c) Jain L.C. Mathematical Content of Dig. Jain Texts of Karṇānuyoga Group, Kundakunda Jñānapīṭha, Indore vol. I & II.
11. Ṭoḍaramala notes that zero was also represented by the katpayādi system of ASG p. 2. See also, (1).
12. Cf. ASG, p. 9
13. Cf. (3), vol. 10, p. 421 et seq. In BM, O stands for an unknown term, cf. (1 & 2, p. 28 et seq.)
14. Cf. ASG, p. 23.
15. Bhūtabali, Mahābandho, vols. 1-7, kashi, 1947-1958.
16. Cf. ASG. p. 3, 57. Cf. also (4) I, ch. 4, sūtras 1287-1291.
17. Cf. (1.f), p. 21.
18. Cf. ASG, p. 3.
19. Cf. Dhavalā vol. 3, 1, 2, 45, p. 253.
20. Cf. ibid, 1,2, 14, 51, p. 98.
21. Cf. (1.e).
22. Cf. Dhavalā, vol. 3, 1, 2, 45, 71, p. 255.
23. Cf. (4.I), ch. 4, sūtra 308 p. 178.
24. Cf. ibid, v. 309, Here the word Jāvam Tāvam is Yāvat Tāvat. Hindu mathematicians used it for the unknown. Diophantus describes it as containing an indeterminate or undefined multitude or units.
25. Cf. ibid., p. 609.
26. Cf. ASG, pp. 20-21.
27. Cf. ibid., p. 8, Cf. also (4.I), v. 91, ch. 1.
28. Cf. ibid., pp. 6, 7, 8, 15, 18, 20, 21.
29. Cf. ibid., p. 9.
30. Cf. ibid., p. 9, 23.
31. Cf. ibid., p. 2.
32. Cf. ibid., p. 5. Cf also (4 I), v. 91. of. also () 1.f, pp. 18, 86, cf. also (4. II), ch. 7, vv. 5-6
33. Cf. ASG. p. 3.
34. Cf. ibid. p. 4, Ghanāvalī, the cubic trail is denoted by
35. Cf. ibid. p. 5, Ghanāṅgula, the cubic finger point-set is denoted by (6)
36. Cf. ibid. p. 6. cf. also (1. f), p-21.
37. Cf. ibid. p. 8.
38. Cf. ibid. p. 11. cf. (4.II), p. 771 et seq.
39. Cf. ibid. p. 24.

40. Cf. ibid. p. 4.
41. Cf. ibid. p. 4.
42. Cf. ibid. p. 5.
43. Cf. ibid. p. 5.
44. Cf. ibid. p. 4 and 23 for other significance of norm.
45. Cf. ibid. p. 4. cf. also (4. II), p. 609.
47. Cf. ibid. p. 9.
48. Cf. ibid. p. 9.
49. Cf. ibid. p. 9.
50. Cf. ibid. p. 9.
51. Cf. Dhavalā vol. 10, op. cit., p. 151, v. 4, 2,4, 32, p. 15.
52. Cf. (4. I), p. 20. Cf. also (4. II), p. 769. These may be of the 3rd century B.C., if syncopated.
53. For other opinions, cf., (1), Datta and Singh.
54. Cf. ibid. p. 26.
55. Vid. (4. I), and (4. II), whereas in the BM, yu denotes the plus sign. cf. also ASG and ASL.
56. Cf. (1. c), p. 24 et seq.
57. Cf. ASG, p. 5. cf. also p. 11. The cube root is written as.
58. Cf. ibid. p. 3.
59. This fact is evident from the finding that the Arthasaṃdṛṣṭis have remained unaltered since 1767, after the death of Ṭoḍaramala.

Received after revision June 2011

प्राकृत तीर्थ

प्राकृत अध्ययन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

सम्पादक : प्रो. प्रेमसुमन जैन

प्रकाशक : राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान
बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ
श्री धवलतीर्थ, श्रवणबेलगोला-573135

Vol. - 23, Issue 3, July - September 2011, 55-65

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indorer

ARE GṚDDHAPICCHA, UMĀSVĀMĪ, AND UMĀSVĀTI ONE PERSON ?

■ **R.S. Shah***

ABSTRACT

Tattvārthasūtra, a greatly venerated scripture for Jainas, is comparable to Brahmasūtra of Hindus. However, great controversy rages over its authorship. Śvetāmbara Jaina tradition proclaims that Umāsvāti of their order is the author of Tattvārthasūtra and he wrote a commentary called Tattvārthādhigama or Tattvārthabhāṣya on it. Popular Digambara Jain belief is that it is the work of their celebrated saint Umāsvāmī who was also known as Umāsvāti or Gṛddhapiccha. This article tries to establish that Umāsvāmī, Gṛddhapiccha and Umāsvāti are three different persons and real author of Tattvārtahsūtra is Gṛddhapiccha, reverred by both sects. Umāsvāti of Śvetāmbara tradition wrote only a commentary on it.

I. INTRODUCTION.

Digambara (Dig. hereafter) Jaina tradition believes that the author of the great aphoristic work Tattvārthasūtra (hereafter TS) is Umāsvāmī, also some places referred as Umāsvāti, and described as disciple of Kundakunda in some late (after 1-2 C. A.D.) inscriptions and Pattāvalīs or Gurvāvalīs. Śvetāmbara (Śve. hereafter) Jaina tradition insists that Umāsvāti belonging to their tradition was the author of TS who also wrote commentary on it, popularly referred as Tattvārthabhāṣya (hereafter TB) and thus they treat it as the oldest commentary of TS. Vīrasena (9th C. A.D.), the Dig. genius and celebrated author of encyclopedic commentary Dhavalā on Ṣaṭkhaṇḍāgama, as well as Vidyānanda (10th C. A.D.), the writer of commentary Ślokavārtika (hereafter SV) on TS, clearly mention Gṛddhapiccha as author of TS, and do not mention either Umāsvāmī or Umāsvāti as his aliases. Many Dig. sources (e.g. Sravaṇabeḷgoḷa (SB) insciptions no. 105 and 108 of 14th C. A.D.) say that Gṛddhapiccha is alias of Umāsvāti or Umāsvāmī. But the same sources proclaim Gṛddhapiccha as alias of Kundakunda also and thus reliability of this source is questionable. Some Dig.Jain historians (e.g. Nathuramji Premi and Jugalkishorji Mukhtar) are firmly of opinion that Umāsvāmī was neither the direct disciple of Kundakunda nor his other name was Gṛddhapiccha. There is great embranglement due to similarity in the names of Umāsvāmī and Umāsvāti which is compounded by sectarian views of the scholars from both camps.

* Ex. Lecturer in Mathematics, Fergusson College, Pune; (Retd.) Executive Director, L.I.C. of India; Res. : 301 Matruchhaya, 40 Jeevanchhaya Society, Paud Road, Pune- 411038.

An attempt is made in this article to weigh the arguments dispassionately and look into internal and external evidence. What is tried to establish here is that Gṛddhapiccha, Umāsvāmī and Umāsvāti are three different personalities and that Gṛddhapiccha, who hailed from a period when the differences between Śve. and Dig. sects were not so acute and when some of the saints like him were equally revered by both the sects, was the author of TS (original aphorism), Umāsvāti was of Śve. sect was only the author of TB (and not of TS), and Umāsvāmī of Māghanandi, Padmanandi (Kundakunda?) lineage has nothing to do with TS.

We must not forget two very important dissertations by two great scholars of Śve. and Dig. sects, but held in esteem by both the sects, viz.:

(1) Introduction in commentary on TS and TB by (Prajñācakṣu) Sukhalalji Sanghavi [1; Introduction, p. 15-67]; and

(2) Preface in Sarvāthasiddhi (SS hereafter), a commentary on TS by Pūjyapāda, edited and translated by Phoolchandji Siddhantasastri [2; preface, p. 19-76].

These put forth very strongly the views that:

(1) (Sukhalalji): Author of TS and TB is same, viz. Umāsvāti and he belonged to Śve. tradition; and

(2) (Phoolchandji) Umāsvāti of Śve. sect was only author of TB and Gṛddhapiccha of Dig. sect was the original author of TS; respectively.

II. TWO VERSIONS (RENDERINGS) OF TS.

Presently, two versions of original aphorisms of TS are available : 1) SS-version, based on commentary "Sarvārthasiddhi" by the great Dig. saint-scholar Pūjyapāda (5/6 C. A.D.) and the same is followed by almost all the subsequent Dig. commentators of TS, viz. Aklaṅka in his Rājvārtika (hereafter RV), Vidyānanda in his SV, Śrutasāgara in his Tattvārthavṛtti, etc. 2) TB-version of TS and both TB and TS are assumed to be written by Umāsvāti as per Śve. tradition. In fact, both the versions are almost identical except for about two dozen minor and half a dozen major differences in the readings.

It is interesting to see as to how the great minds due to their ingrained faith in their respective traditions have strong views in certain matters. Sukhalalji contends that Pūjyapāda altered the TB version of TS to suit the dogmatic tenets of Dig. sect. This was due to Sukhalalji's conviction that TS and TB are from the same author, i.e. Umāsvāti, (according to him from 4/5th C. A.D) and that Umāsvāti preceded Pūjyapāda by about one century. Phoolchandji, on the other hand, vehemently tries to establish that Umāsvāti hailed from 7/8th C. A.D. and was the author of TB only and changed the original (SS-version) aphorisms found in TS, to suit the tenets of Śve. sect.

III. SOME UNRESOLVED ISSUES.

Before we proceed to investigate the issue indicated in the title of this article, we note some relevant issues which are not resolved yet and are a subject matter of great controversy, many times again with sectarian undertones. We list here 4 such issues.

i) As per the authority of Tiloyapaṇṇattī [3; part 1; p. 340] and Dhavalā [4; part 1; p. 64-67], masters in Canon (Aṅgas) flourished up to 683 years after Nirvāṇa (emancipation) of Mahāvīra in 527 B.C. By this time the knowledge of 11 Aṅgas and 14 Pūrvas was totally lost. But there were few scholar-saints who possessed knowledge of a small fragment of Pūrvas. Accordingly, Bhūtabali and Puṣpadanta learned it from Dharasena of Saurāṣṭra and composed the monumental Ṣaṭkhaṇḍāgama. Now how many years after 683 years from Nirvāṇa of Mahāvīra, Dharasena flourished is nowhere chronicled. It may be 100 or 200 years after this deadline of 683 years. But almost all Dig. scholars assume that Dharasena flourished exactly 683 years after Mahāvīra, i.e. in 2nd C. A.D.

ii) The genealogy of Dig. Ācāryas (chief pontiffs) begins with Arhadbali (there are indications that he flourished around the same time as Dharasena) and is followed by Māghanandi, Padmanandi of Kouṇḍakuṇḍa, Umāsvāmī, etc. Because of certain SB-inscriptions of 14th C. A.D. stating that Padmanandi is another name of Kundakunda (कुंदकुंद), the celebrated author of trilogy-Samayasāra, Pravacanasāra and Pañcāstikāyasaṅgraha - majority of Dig. Jaina historians and scholars identify padmanandi of above genealogy with Kundakunda (कुंदकुंद). The said SB-inscriptions nowhere mention about the celebrated trilogy. All earlier SB-inscriptions between 10th and 13th C.s A.D. only talk of Padmanandi of Kouṇḍakuṇḍa, most probably the author of Parikarma, a commentary on Ṣaṭkhaṇḍāgama, mentioned by Vīrasena in Dhavalā [4; part3; p.19]. Also, most probably Kouṇḍakoṇḍānvaya (कौंडकोंडान्वय) started with him since the title of anvaya (lineage) was generally after the name of the place, i.e. Kouṇḍakoṇḍa (कौंडकोंड) to which Padmanandi belonged. With passage of time (of about 1000 years), the name came to be changed as Kundakundānvaya (कुंदकुंदान्वय) because of similarity in name and majority of scholars tended to believe that Kundakunda (कुंदकुंद) is sanskritisation of Kouṇḍakoṇḍa (कौंडकोंड) and that the anvaya was named after Kundakunda (कुंदकुंद). Even the so-called Kouṇḍakoṇḍānvaya (कौंडकोंडान्वय) was first mentioned in copper plates of Mercara of 5th C. A.D., where a chain of 6 Ācāryas of this anvaya are mentioned and which neither refers to Kundakunda (कुंदकुंद) nor to his trilogy [5] and thus many scholars put him in 6th C. A.D.

iii) Normally accepted chain of Ācāryas (since the time Arhadbali split the original Mūla Saṅgha of Dig. sect in number of saṅghas probably any time between 2nd and 4th C. A.D.) runs as follows as per Paṭṭāvalīs or Gurvāvalīs of various saṅghas: Arhadbali, Māghanandi, Padmanandi (Kundakunda कुंदकुंद?),

…, Umāsvāmī, …, Samantabhadra, …, Pūjyapāda, …, Aklaṅka, …, Vidyānanda, etc. however, many historians and scholars like Premiji and Mukhtarji do not believe that Umāsvāmī was direct or hereditary disciple of Kundakunda (कुंदकुंद). They are not ready to accept the testimony of SB-inscriptions in this respect since these inscriptions are carved about 1000 years after the division of Saṅgha. They also do not want to rely on Paṭṭāvalīs and Gurvāvalīs of various Saṅghas as they too are composed after 12th C. A.D., are full of inconsistencies, and tend to show that their Saṅghas originated from Mūla Saṅgha and that all great Ācāryas (especially कुंदकुंद) belonged to their Saṅgha. [1; p. 110-115].

iv) There is great debate about whether the initial invocation "मोक्षमार्गस्य नेत्तारं…" belongs to TS or SS. Those in favor of SS argue that great Dig. commentators of TS like Aklaṅka in his RV or Vidyānanda in his SV have not commented on it, clearly showing that it did not belong to TS. They also argue that this invocation does not appear in TB-version of TS and also no Śve. commentator of TS or TB has commented on it. This clearly indicates that it is by Pūjyapāda in his SS. Another camp vehemently opposes this mainly because of the fact that if this is accepted as invocation of SS, then since Āptamīmānsā (or Devāgamastotra) of Samantabhadra is regarded as commentary on this invocation, will put Samantabhadra after Pūjyapāda, which goes against the tradition that Samantabhadra preceded Pūjyapāda by about a century. [2; p. 54-55].

IV. GREAT DEBATE ON OWNERSHIP.

(A) Great Śve. scholar late Pt. Sukhalalji, revered greatly by all the sects of Jainas, tries to prove in his most erudite preface to TS [1] that: i) TS and TB are by same author, namely Umāsvāti, ii) who belonged to Śve. sect, iii) he hailed after 2nd C. A.D. (although Dr. Suzuko Ohira in his doctoral dissertation under the guidance of Pt. Sukhlalji arrives at the conclusion that upper limit of Umāsvāti is middle of 5th C. A.D. [6; p. 137]). v) Umāsvāti, the author of TS and TB, precedes Pūjyapāda to whom he accepts belonging to 5th C. A.D., and that the later changed some aphorisms to suit Dig. tradition.

He rests his case on following premises: (1) There are some words or phrases in TB and commentaries on TB by Siddhasenagaṇi and Haribhadra which indicate that TS and TB are by the same author. (2) SS smacks of sectarianism while TB does not give such impression. (3) Style of TB appears older than that of SS and SS also appears to be influenced by TB. (4) The ideas on philosophy, epistemology, logic enunciated in SS appear to be more developed and advanced when compared to TB. (5) There is great consistency and absence of any difference of opinion in TS and TB, indicating that they are by the same author. [1; p. 17-24, 94-100].

Prima facie, Sukhalalji's contentions at (2), (3), and (4) above appear to be his views and opinions. This author does not dare to cast any aspersions on

such a great personality and scholar but wants only to indicate that some views can be due to deep-seated and ingrained faith in one's tradition. The other camp led by another doyen from Dig. sect and respected by all the factions of Jainas, late Pt. Phoolchandji Siddhanta Shastri, has tried to demolish all the points [(1) to (5) in previous para] raised by Pt. Sukhalalji. Especially, as regards contention (5) of Sukhalalji he has quoted numerous instances of differences in TB-version of TS and TB itself. Also as regards Sukhalalji's contention at (1) above, Phoolchandji quotes certain remarks and passages from TB and its Śve. commentators which indicate that the authors of TS and TB are different. [2; p. 64-67]. (We are not going into details of their arguments but recommend the readers to go through the prefaces written by these titans to TS and SS mentioned at the end of section I of this article, as they are beautiful pieces of great literary and philosophical merit).

(B) Pt. Phoolchandji, in his presentation [2], tries to show: (a) Umāsvāti is the author of TB only (and not of TS); (b) Author of TS was Gṛddhapiccha who may be assigned to 2nd or 3rd C. A.D.; (c) Umāsvāti might have changed the original aphorisms of TS to suit the tradition of Śve. sect and wrote commentary (TB) on it. (d) As apparent from many Śve. sources, Umāsvāti's time was around 730 A.D. and thus he was influenced , if at all, by Pūjyapāda. [2; p. 68-69]. Pt. Phoolchandji had written pages on rebuttal of points raised by Pt. Sukhalalji but was not able to throw any light on as to who Gṛddhapiccha was or as to the period he belonged. Phoolchandji agrees that some references, especially the invocatory passages or remarks at the end of each chapter (adhyāya) or chapter-ending phrases of Śve. commentators, indicate that TS and TB are authored by the same person. Both Sukhalalji and Phoolchandji refer to colophon at the end of each chapter of TB reading thus: *"iti tattvārthādhigamerhatpra-vacanasaṅgrahe prathamodhyāyah samāpta"*. Sukhalalji regards this as the proof of the fact that TS was called Tattvārthādhigama and thus authors of TS and TB are same. This very fact, according to Phoolchandji, indicates that TB was known as Tattvārthādhigama and TS was known earlier as *"Arhatpra-vacanasaṅgraha",* and thus TS and TB are by different authors. To reinforce his argument, Phoolchandji puts forth following additional evidence. In his commentary RV on sutra 37 of chapter 5 (i.e. 5.37) Akalaṅka refers to one *"Arhatpravacanahṛdaya"* and later remarks *"Uktañcahi arhatpravacane dravyāśraya nirguṇā guṇāḥ"*. Even the colophon at the end of TB runs as *"Tattvārthādhigamākhyam bahvartham saṅgraham laghugrantham / vakṣāmi śiṣyahitamamarhadvacanaikdesasya"*. Amṛtacandra, in his commentary on Kundakunda's Samayasāra, regards TS as part of Arhatpravacana *(prabhṛtahvayavasyārhatpravacanāvayavasya)*. Thus, Phoolchandji surmises that there must be some earlier work called Arhatpravacana or Arhatpravacanasaṅgraha or Arhatpravacanahṛdaya written by Gṛddhapiccha,

which came to be called TS with passage of time, and on which Pūjyapāda wrote his commentary SS and Umāsvāti TB. (It may be interesting to note that one Prabhācandra has named his work "Arhatprvacana" and claims it to be based on ancient Arhatpravacana: *athātorhatpravacanamasūtram vyākhyāsyāmah*). [2; p. 43].

To prove that Umāsvāti hailed after Pūjyapāda, Phoolchandji puts forth following facts: (i) Oldest Paṭṭāvalī of Nandisūtra and Gurvāvalī of Kalpasūtra (composed in 5th C. A.D.) do not mention Umāsvāti or his masters. Jinabhadragaṇi (5/ 6 C.) also does not mention him in any of his monumental works. Thus Umāsvāti must have hailed after this period. (ii) As per the Paṭṭāvalī composed by Dharmaghoṣasūri (12/13 C. A.D.), the period of Umāsvāti comes around 664 A.D. (iii) Great scholar Vinayavijayagaṇi of 17th C. A.D. describes Umāsvāti as Yugapradhāna (Chief Pontiff) hailing after Jinabhadra and Puṣpamitra, i.e. from 7th C. A.D. (iv) Ravivardhanagaṇi (17th C. A.D.), in his Paṭṭāvalī gives date of Umāsvāti as 1190 years after Mahāvīra, i.e. 664 A.D. *This all goes to show that Umāsvāti flourished in 7th C. A.D. Thus Pūjyapāda (5/6th C. A.D.) precedes Umāsvāti by about a century.[2; p. 68-70].*

The last argument (at (5) of section III (A)) of Sukhalalji about almost total consistency between TS and TB to prove that both are authored by *Umāsvāti*, is refuted by Phoolchandji by pointing out couple of basic differences in TS and TB. Further he points out a number of differences in TS, TB, and two commentaries on TB by Haribhadra and Siddhasenagaṇi and objections raised by these commentators against TB.

To prove that Gṛddhapiccha, the author of TS, was an adherent of Dig. sect, Phoolchandji harps on the word "nāgnya" of TS (9.15) as one of pariṣahas. [2; p. 63]. Thus, according to Phoolchandji, TS was written by Gṛddhapiccha of Dig. sect and the first commentator was also a Dig. (Pūjyapāda) and was followed by Śve. Umāsvāti, who made suitable alterations in the original aphorisms to suit Śve. tradition. On the other hand, Sukhalalji has also put forth strong argument to show that TS is by Umāsvāti, a Śve. saint of 5th C. according to him, especially by drawing attention to aphorism (9.11) of TS, namely, "ekādaśajine", meaning that the liberated souls undergo 11 pariṣahas, which goes against Dig. tradition. [1; p. 36]. Sukhalalji rightly puts Pūjyapāda in 5/6th C. but after Umāsvāti and states that he made changes in original aphorisms of TS as found in TB to suit Dig. tradition as the differences in two sects had become irreconcilable then. [1; p. 99-100].

V. HOW DEEP WAS SCHISM ?

In order to justify our conjecture in the next section it will be necessary to recount, in short, the genesis, spread and growth of divide in Jainism. From

Buddhist scriptures it becomes clear that before Mahāvīra the tradition of Nirgranthas or Śramaṇas was of the followers of Pārśvanātha who were either totally naked or partly (scantily) clad. [1; p.38-42]. Further, Pārśva's saṅgha included Ājīvakas who observed total nudity. [7; p. 401]. Śve. scriptures clearly depict that Mahāvīra's saṅgha included both naked (jinakalpī) and one-clothed (sthavira-kalpī) monks, both having equal right to mokṣa (emancipation). These Āgamic works depict Ṛṣabha and Mahāvīra as naked and all other Tīrthaṁkaras as partly clad. Thus two camps of naked and scantily clad monks must have existed long before Mahāvīra, each trying to plead its superiority. [8; p. 101].

Buddhist scriptures describe as to how after Nirvāṇa of Mahāvīra there was great rift between various camps of Mahāvīra's followers. [9; 276] [10; p. 8].. Śve. Āgamas also corroborate this by pointing out that heads of 36 republics and kingdoms gathered then at Pāvā and Choqse Sudharmā (instead of Gautama) to lead the Saṅgha. Some scholars conjecture that Gautama may be a staunch supporter of nudity, while Sudharmā, although naked, must be a moderate having no insistence on nudity. This is probably why the Heads of states preferred Sudharmā to head the organization of Mahāvīra. But how to ignore Gautama, the chief disciple (first among 11 gaṇadharas) of Mahāvīra? Both Śve. and Dig. scriptures came out of this dilemma by declaring that the day Mahāvīra attained emancipation and departed from his mortal body, Gautama attained enlightenment (kevalajñāna). So, naturally, he could not lead the saṅgha and thus both the sects agree that Sudharmā became the head of Mahāvīra's saṅgha. This, therefore, must be beginning of dissension in 527 B.C. [11; foreword, p. xii, xiii].

It appears from Śve. scripture Āvaśyaka Cūrṇi that jinakalpa (nudity) was followed up to Ārya Rakṣita (1st C. A.D.). It also mentions that Ārya Mahāgiri (c. 250 B.C.) was jinakalpī. Between these two masters was Ārya Vajra, Guru of Ārya Rakṣita, who also must be jinakalpī. Ārya Vajra's two disciples Ārya Maṅkṣu and Nāgahasti must also be so since they are held in great esteem by Dig.s too, who believe that they learned Kaṣāya Pāhuḍa (Dig.s treat it as their Āgama) from Dig. Ācārya Guṇadhara and passed it on to Yativṛṣabha, the celebrated author of Cūrṇi Sūtras on Kaṣāya Pāhuḍa and Tiloyapaṇṇattī. [4; part 12, p. 231-232]. Gradually the differences must have widened and by 2nd C. A.D. the division might have been formalized. This is also evidenced by agreement of date of schism from Śve. version of Jinabhadra (5/6th C. A.D.) of origination of Dig. sect and Dig. version of Devasena (10th C. A.D.) of origination of Śve. sect as 2nd C. A.D.

Even then the differences must not have come in way of harmonious coexistence or must not have been so acute as to convert them into hatred as it happened slowly and gradually. There was the powerful sect among Jainas called Ājīvakas whose saints observed complete nudity and took their food through

hands (pāṇipātri) only, which is even today a hallmark of Dig. saints. Mysteriously, all scriptural and epigraphic evidence about Ājīvakas vanished from 6/7th C. onwards. Probably they were called Yāpanīyas thereafter (notice the etymological similarity in the words ājīvaka and yāpanīya) which ultimately merged totally in Dig. sect and was a powerful saṅgha in Dig.s till 16/17th C. It is significant to note that although Ājīvakas and Yāpanīyas observed total nudity [8; p. 340], they believed in emancipation for women and clothed saints and also accepted that kevalīs (enlightened ones) take solid food – all these things being vehemently opposed by Dig.s. There were Dig. ācāryas (or they might have belonged to Ājīvaka or Yāpanīya tradition) who supported theory of emancipation for women and clothed saints and consumption of food by Kevalīs as is apparent from Aparājitasūri's commentary on Mūlācāra, Śrutasāgarasūri's commentary on TS, works of famed Dig. grammarian Śkaṭayana; Aparājita even wrote commentary on Daśavaikalikasūtra, one of Āgamic works of Śve.s. and commentary on Sanmatitarka of Śve. Siddhasena Divākara, revered by ācāryas of both sects. [1; p.47-49].

Evidence of copper plates and inscriptions of 5th C. shows king Mṛgeśavarman donating land for the maintenance of monks belonging to the sects of Nirgranthas (note that word Dig. was not current then) which also included Yāpanīyas and Kurcakas (bearded naked saints?), Śveṭapaṭas (word Śve. was not current then), and Arhats (Buddhists) - the land to be equally divided between them. [5]. It further appears that even up to 9th C. there must be free flow of thoughts among the sects of Jainism. We find Aklaṅka quoting Siddhasena Divākara of Śve. sect and Vīrasena quoting from Śve. Āgamas. Scriptures like Mūlācāra, Bhagavatī Arādhanā supporting some of Śve. tenets are even today owned by Dig.s. Some scholars believe that composers of these scriptures were Ācāryas belonging to Yāpanīya saṅgha which ultimately merged in Dig. sect. :

It appears, beginning with 5/6th C. the gulf between Dig. and Śve. sects started widening and by 12/13th C., probably with advent of Bhaṭṭāraka movement in Dig.s the rift became so large that the differences became the cause of mutual hatred. Sukhalalji feels that rise of Terāpanth movement made Dig.s so fanatic that they totally rejected Śve.s, their scriptures and their practices. [1; p. 50]. Naturally there was equally vehement reaction from the other camp (Śve.s).

VI. CONJECTURE.

We have earlier seen that great scholars start with certain assumptions. For example Sukhalalji accepts common belief among Śve.s that TS and TB were authored by same writer, i.e. Umāsvāti, and that he preceded Pūjyapāda at least by a century. Even more contentious was his argument that SS, commentary on TS by Pūjyapāda is sectarian in character and that Pūjyapāda altered the original

aphorisms here and there to suit Dig. tradition. Equally contentious is assumption of Phoolchandji that it is Umāsvāti, author of TB only (and not of TS), made changes in original aphorisms of TS as given in SS in tune with Śvet. tradition.

Can we view the entire matter in a new light, which may appear more consistent and convincing, based on historicity and without any sectarian undertones? This author wants to present a conjecture for consideration of the scholars of both the sects for their perusal, approval or refutation.

(1) All the early writings of Jainas - Śve. Āgamas composed during a period starting immediately after Mahāvīra (527 B.C.) till its final editing in 5th C., Dig. works treated by them as Āgama i.e. Ṣaṭkhaṇḍāgama and Kaṣāyapāhuḍa (2nd / 3rd C.), works of Jinabhadra, Yativṛṣabha (5/6th C.), etc. were written in Ardhamāgadhī language - for Śve.s in Mahārāṣṭri Prākṛta and for Dig.s in Śaurasenī Prākṛta. First Saṁskṛta work, besides TS, among Dig.s is SS of Pūjyapada (5/6th C.) and among Śve.s is Dvātrimśatikā of Siddhasena Divākara (5/6th C.). Saṃskṛta language regained its status during regime of Gupta dynasty and Jaina and Buddha scholars started composing works in Saṃskṛta language. This trend must have started from 5/6th C. which may be taken as the earliest date of writing of TS.

(2) Śve. Āgamas were last edited in Valabhī Council of 450 A.D. ADS (Anuyogadvārasūtra) and other Āgamic works contain references to works of Jaina and non-Jaina scholars up to 5th C. A.D. Jinabhadra often quotes from various other Jaina sources. In all these there is no mention of either TS or Umāsvāti or Gṛddhapiccha. This indicates that TS must have been composed in 6th C. or later.

(3) Dig.s claim that all the 12 Aṅgas are irretrievably lost except for a very small portion of 12th Aṅga Dṛṣṭivāda which is available in the form of Ṣaṭkhaṇḍāgama and Kasāyapāhuḍa. Śve.s, on the other hand, claim that they were able to preserve 11 Aṅgas through the convening of 3 Councils in 300 B.C., 300 A.D. and 450 A.D., when in the last the same were put in writing. Probably because of a very small portion of the same was not in consonance with their tradition, Dig.s totally rejected the Śve. Āgamas. This process must have been crystallized before 10/11th C. as we find Pūjyapāda, Aklaṅka and Vīrasena quoting from certain Śve. āgamas and a number of verses in Mūlācāra, works of Kundakunda etc. bearing very close similarity with those in Śve. Āgamas. Thus, if TS would have been a work of Śve. Ācārya, Dig.s would have rejected it. On the other hand, if it would have been authored by a Dig. saint it would not have found acceptance with Śve.s. Hence TS must be a work from a saint- scholar who was acceptable to both sects, probably from an Ācārya of Yāpanīya sangh (as Premiji thinks) or from an Ācārya hailing from a period when the relations between the sects were not fanatically strained.

(4) From these considerations it is highly likely that Gṛddhapiccha was the author of TS. Otherwise why Vīrasena and Vidyānanda categorically state that the writer is Gṛṛddhapiccha? Why they do not mention the name of Umāsvāti or Umāsvāmī? Gṛddhapiccha's historicity gets confirmed also by his mention by Vādirājasuri (10/11th C.). This Gṛddhapiccha might be an yāpanīya (as brought out by Premiji in his long article [1; p. 9]), or from such a saṅgha composed of both naked and partly clad saints, or even if he was Śve., he would have been a jinakalpī (naked) and thus acceptable to Dig.s also, as was the case with Ārya Maṅkṣu and Nāgahastī. Unfortunately, no details whatsoever are available about Gṛddhapiccha.

(5) Gṛddhapiccha must have belonged to 5th C. at the earliest when writing in Saṃskṛta was introduced in Jaina fold. Pūjyapāda and Umāsvāti must have wrote their commentaries (TS and TB respectively) immediately thereafter by adopting versions of TS consistent with the tenets of their respective faiths. They may be contemporaries (6th C.) or the difference between their periods must be insignificant.

(6) At the end of reading of Dig. TS, usually a verse is recited: *Tattvārthasūtrakartāraṁ Gṛddhapicchopalakṣitaṁ/Vande gaṇindrasañjātamumāsvamimuniśvaraṁ//.* We do not know when and by whom this verse was inserted. But it appears of very late date, may be 19th C. or thereafter. Similarly, an inscription from taluka/ district Ahmadnagar reads as under: *Tattvārthasūtrakartāramumasvāti muniśvaraṁ/ Śrutakevali deśiyaṁ vandehaṁ guṇamandiraṁ //.* Date of this inscription is not known, but appears to be of 14/ 15th C. as by that time there is mix-up of Gṛddhapiccha with Umāsvāmī or Umāsvāti due to similarity in the names. Same thing has happened with SB inscriptions no. 105 (1398 A.D.) and no. 108 (1411 A.D.), where all these names have got mixed up.

Such misconception is possible as SB inscriptions were of very late date separated by centuries from Gṛddhapiccha or Umāsvāmī or Umāsvāti. These inscriptions cannot be relied upon as they belong to a period of mystification where unbelievable and exaggerated accounts such as gods carrying Kundakunda to Videha (similar stories also in respect of Umāsvāmī and Pūjyapāda), Pūjyapāda walking in the air by applying a chemical to his soles, etc. are narrated.

VII. CONCLUSION.

From all the discussion above it looks highly probable that Gṛddhapiccha, Umāsvāmī and Umāsvāti are three different persons. Gṛddhapiccha of 5th C., revered by all sections of Jainas, composed TS in Sanskrita, which was probably known as Arhatpravacana, on which Umāsvāti of Śve. sect wrote a commentary TB or Tattvārthādhigama in 6/7th C. and Pūjyapāda of Dig. sect wrote commentary SS round about the same time. Umāsvāmī of Arhadbali,

Māghanandi, Padmanandi, Umāsvāmī lineage has nothing to do with TS. Umāsvāmī might have preceded Gṛddhapiccha.

ABBREVIATIONS

A.D.: indicate years of Christian era.
C : century.
Dig. : Digambara (sect).
RV : Rajavārtika.
SB : Śravaṇabelgola
SS : Sarvārthasiddhi.
ŚV : Ślokavārtika.
Śve. : Śvetāmbara (Sect)
TB : Tattvārthabhāṣya.
TS : Tattvārthasūtra.

REFERENCES

[1]: Pt. Sukhalalji (ed.): Tattvārthasūtra of Vācaka Umāsvāti. (English tr. by K.K.Dixit); L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, (1974).

[2]: Pt. Phoolchandji Siddhantashastri (ed. and tr.): Sarvārthasiddhi of Pūjyapāda; Bhāratīya Jñānapīth, New- Delhi, (2nd Ed., 1971).

[3]: A.N. Upadhye, Hiralal Jain (ed. & tr.): Tiloya-paṇṇattī of Yati Uṛṣabha; Jain Samskriti Samrakshaka Sangha, Solapur, (1956).

[4]: Hiralal Jain (ed.): Ṣatkhaṇḍāgama of Puspadant and Bhutabali with Dhavala commentary of Virasena; Jaina Sahityoddharaka Fund Kāryālaya, Amaravati, (1939-59).

[5]: www.archives.org/stream/.../coorginscription.

[6]: Dr. Suzuko Ohira: A Study of Tattvārthasūtra with Bhāṣya; L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, (1982).

[7]: Balabhadra Jain: Jain Dharma kā Prācina Itihāsa, vol. 1; M/s Kesarichand Chavalwale, Delhi, (1973).

[8]: Asim Kumar Chattergee: A Comprehensive History of Jainism (up to 1000 A.D.); Forma KLM Pvt. Ltd., Calcutta, (1978).

[9]: A.N. Upadhye & others (eds.): Mahāvīra and His Teachings; Bh. Mahavira 2500th Nirvana Mahotsava Samiti, Mumbai, (1977).

[10]: Dr. Vidyadhara Johrapurkar & Dr. Kasturchanda Kaslival: Vira Śāsana ke Prabhāvaka Ācārya; Bhāratīya Jñānapiṭha, New-Delhi, (1975).

[11]: Kasturchand Lalwani (ed. & tr.): Kalpasūtra of Bhadrabāhu Svāmī; Motilal Banarasidas, Delhi, (1979).

Received : 23.09.10

General Instructions and Information for Contributors

1. Arhat Vacana publishes original papers, reviews of books & essays, summaries of Dissertations and Ph.D. Thesis, reports of Meetings/Symposiums/Seminars/ Conferences etc.
2. Papers are published on the understanding that they have been neither published earlier nor have been offered to any journal for publication.
3. The manuscript (in duplicate) should be sent to the following address-
   Dr. Anupam Jain, Editor - Arhat Vacana
   'Gyan Chhaya', D-14, Sudamanagar, INDORE - 452 009,
   e-mail : anupamjain3@rediffmail.com
4. The manuscript must be typed on one side of the durable white paper, in double spacing and with wide margin. the title page should contain the title of the paper, name and full address of the author. **It is prefered to submit the MSS electronically through C.D. or email in MS Word in addition to the above.**
5. The author must provide a short abstract in duplicate, not exceeding 250 words, summarising and highlighting the principal findings covered in the paper.
6. Foot-notes should be indicated by superior number running sequentially through the text. All references should be given at the end of the text. The following guidelines should be strictly followed.
   (i) References to books should include author's full name, complete and unabbreviated title of the books (underlined to indicate italics), volume, edition (if necessary), publisher's name, place of publication, year of publication and page number cited. For example - Jain, Laxmi Chandra, Exact Sciences from Jaina Sources, Basic Mathematics, Vol.-1, Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, Jaipur, 1982, pp. XVI
   (ii) References to articles in periodicals should mention author's name, title of the article, title of the periodical, underlined volume, issue number (if required), page number and year. For example - Gupta, R.C., Mahāvīrācārya on the Perimeter and Area of Elipse, The Mathematics Education, 8 (B), PP. 17-20, 1974.
   (iii) In case of similar citations, full reference should be given in the first citation. In the succeeding citation abbreviated version of the title and author's name may be used. For example - Jain, Exact Sciences, PP. 45 etc.
7. Line sketches should be made with black ink on white board of tracing paper. Photographic prints should be glossy with strong contrast.
8. Acknowledgements, if there be, are to be placed at the end of the paper, just before reference.
9. Only ten copies of the reprints will be given free of charge to those authors, who subscribe. Additional copies, on payment, may be ordered as soon as it is accepted for publication.
10. Devanāgari words, if written in Roman Script, should be underlined and transliteration system should be adopted.

Vol. - 23, Issue 3, July - September 2011, 67-77

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

Ancient Indian Astronomy and Mathematics

■ D.S. Hooda *

Abstract

In the present talk a brief account of ancient Indian astronomy which has been divided into two periods (a) Pre-Siddhānta period (b) The Siddhānta Jyotiṣa period is given, Five Siddhānta books supposed to be written by the sages are described and some other books on astronomy written by outstanding mathematicians and astronomers are discussed.

Historical development of Ancient Indian Mathematics with reference to various manuscripts is described with examples. In particular development of the decimal system and numerals with zero symbols are discussed in detail. In the end some concluding remarks about ancient Hindu Mathematics and Astronomy are also given.

1. Introduction -

It has been pointed out by many authors that life in ancient India was dominated by religion. Mathematics was created for designing yajña kuṇdas and altars for various types of havans. Astronomy was developed to regulate religious rituals. More Mathematics was created to meet the needs of this astronomy. Most of Hindu astronomy was given in Religious books and most of Hindu mathematics was given in books on Hindu astronomy.

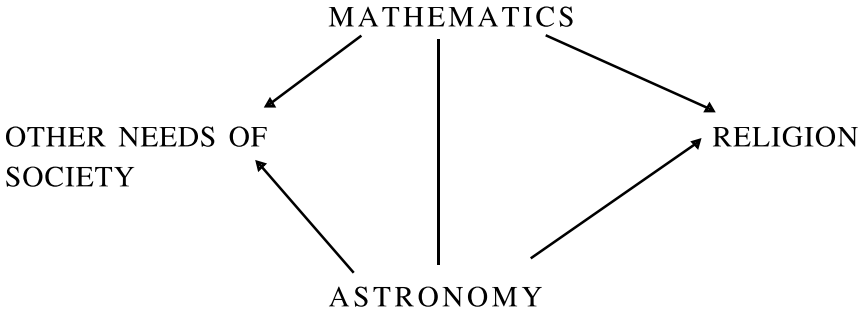

Fig. 1

The Close relation between Mathematics and Astronomy has continued in

✻ Dean (R) and HOD, Department of Mathematics, Jaypee University of Engineering and Technology, A.B. Road, Raghogarh, Distt. Guna-473226 (M.P.)

modern times also, though mathematics has many users other than astronomers (and religion does not need mathematics very much now). Moreover, modern astronomy also depends on many other disciplines like physics, chemistry, biology etc. (which was not developed to the same extent as mathematics in ancient India).

2. Brief History of Ancient Indian Astronomy -

For convenience, this history is devided into two periods : (a) The Pre-Siddhāntica Period (b) The *Siddhāntica Jyotiṣa* Period.

The Pre-Siddhāntica Period is further divided into four parts.

(i) Pre-Vedic Astronomy-

Though there is no direct reference to astronomy in the antiquities found in the excavations of Mohañjo-dāro and Harappā, yet it is believed that a civilization so highly developed could not do without a calendar based on astronomy.

(ii) Vedic period astronomy -

There are many astronomical references in the *vedas,* particularly the *Yajurveda,* which show that a system of astronomy, based on practical obsevations of moon and stars, existed for providing the calendar to enable the priests to perform *yajñas,* which had to be performed in different parts of the year and at different points of the day.

A day was reckoned from sunrise to sunset and the night was reckoned from sunset to sunrise. Each was divided into fifteen *muhūrats* (48 minutes). The *mūhūrats* were named differently for each day and night of the dark and bright fortnights of a lunar month.

Besides these, there were three divisions of a day *(pūrvāhna, Madhyāhna and sāyahna)* and five divisions of a day *(prātah, Sanagava, Madhyamā, Aparahna and Sāyahna)* for rough division of time. The month used was the lunar month and all 30 days of the lunar months were given specific names. There were two groups of vedic people, one reckoned a month from full moon to full moon, and the other from new moon to new moon.

A year considered of twelve months *(Madhu, Mādhava, Śukra, Śūchi, Nabhas, Nabhasya, Isha, Urja, Saha, Sahasya, Tapa and Tapasaya)*, spread over six seasons *(Vasanta, Grīṣma, Varṣā, Śarada, Hemanta and Śiśira)*. Later, with the discovery of *Nakṣatras*, the names of months were changed to their present names. *Caitra, Vaiṣākha* etc. The solar year was also started to be used along with the lunar month, and a thirteenth month *Ahmaspati* (intercalary) was introduced to regulate calculations.

There were two Ayans in a year namely *Uttarāyaṇa* and *Dakṣināyaṇa* marking the period of northward and southward motion of the sun. A Vishwa day (an equinoxal day) is mentioned between the two ayanas. A yuga is also mentioned, but it is meant only for a period of five years in the vedic period. Within the belt along which the Moon moves around the path of the Sun (ecliptic), where in its maximum celestial longitude is five degrees north or south, a *Nakṣatra* system was supposed to consist of 27 *Nakṣatras*, all of which were named in vedic times were slightly different from their present names. Among the planets, *Brahspati* (Jupiter), *Śukra* (Venus) and *Rāhu* are mentioned, but it is not easy to see how those who constantly watched the *Nakṣatras*, could have left the other planets unnoticed. Comets and meteors (*Dhumketū* and *Ulkās*) are clearly mentioned. There is no mention of a seven days week of zodiac signs (rāśis in the Vedas.

(iii) *Vedāṁga Jyotiṣa* pariod of astronomy -

For every *Veda,* rules were given for calculating astronomical results in a text called *Vedāṁga Jyotiṣa* supposed to be written by the unknown writer Leghadha. The period might be about the thirteenth century B.C. A period of five years was called *yuga* and the names of the five years were *Saṁavastara, Parivastara, Idavastara, Anuvastara and Idvastara.* A solar year was supposed to consist of 366 days. A *yuga* was Supposed to consist of 1830 civil days, sixty two (synodic) months of moon, thirty omitted *tithīs*, two intercalary months and five mean remolutions of the sun. *Vedāṁga Jyotiṣa* dealt only with rough calculations of solar and lunar elements. There were no calulations for planets.

(iv) *Mahābhārata* period of astronomy -

During this period, Indian had knowledge of 5 planets; they observed them in the framework of *Nakṣatras* belt and in conjunction with one another. They knew about the retrograde motions of planets and they attached astrological significanse to all these phenomena. They had a time scale of *kalpayuga* of 4.32x109 years and of a Mahāyuga of 4.32x106 years consisting of *Kalayuga* of 432000 years. *Dvāpara yuga of 864000 years. Tretāyuga of 1296000 years and satayuga of 1728000 years.*

Siddhānta Jyotiṣa period of India astronomy : *Siddhānta Jyotiṣa* means a system which gives rules for calculating time, motions of planets etc., from the beginnings of the universe (Sreshtiādi) to the end *(pralya)*. A book is called *Karaṇa* if it gives rules for calculating astronomical events from a fixed epoch, other than the beginning of *yuga of Kalpa.* The period in which these books were written is called the *Siddhāntica Jyotiṣa* period.

These are following five *Siddhānta* books which are supposed to be written either by immortal beings or by sages:

Paitāmaha or Brahma Siddhānta

Vaiṣtha Siddhānta

Romaka Siddhānta

Paulisa Siddhānta

Sūrya Siddhānta

The most respected and scientific of these is the Sūrya Siddhānta, and its calculations are based in recorded coordinates of Nakṣatras. It is believed to have been written in about 280 AD.

It is claimed that the third and fourth of the Siddhānta books may have foreign influence since these have, at some places, greater resemblance to greek astronomy than to Indian astronomy. However, the most accurate of these, viz. the Sūrya- Siddhānta is certainly Indian. All these five Siddhānta's were edited by the famous astronomer Varāhamihira, in his famous work Panca Siddhāntikā. There are other books on astronomy, written later, by outstanding mathematicians and astronomers.

1 . *Āryabhatīya* : It was written by Āryabhaṭa 1 (421 Śaka), whose fifteen hundredth Anniversary we celebrated in 1976 and after whom we named our first satellite. This was the first book on astronomy supposed to be written by a non-divine being. The book also contains chapters on arithmetic, algebra and trigonometry, and gives the first tables for trigonometric functions. Details about this book are given in Chapter III of *'The Āryabhatīya'*.

2 . *Brahmasphuta Siddhānta* (revised system of Brahmā) by Brahmagupta (550 Śaka): This book gives accurate rules for finding positions of planets, and corrects errors in earlier works. Bhaskarācrya considered Brahmagupta as *Ganita Candra Cūramaṇi* first gem among the circle of mathematicians.

3 . *Baswati Karaṇa by Śatānanda* (1021 Śaka) : This book uses Centimal multiplication and ḍivision system.

4 . *Siddhānta Śiromaṇi by Bhāskarācārya* (1036 Śaka) : This book is the most comprehensive and gives a complete account of Indian astronomy till that time. It also discusses the obliquity or the ecliptic and its effect on the equation of time. This contains four parts, namely *Lilāvatī, Bījagaṇita, Golādhayāya and Gṛhagaṇita*.

5 . Grahalāgvam By Ganeṣa (1445 Śaka) : This book is useful for those who have only limited knowledge of mathematics.

6 . Siddhānta - Tattava Viveka by Kakalaka Bhatt (1530 Śaka) : It is a good book on mathematical astronomy.

Now we mention some books written in Kerala.

1. Deva Keralam, Śukra Keralam, of about the seventh century A.D.

2. *Sarkarānārayaṇeeyam*, by *Sarkaranārāyaṇa* of the ninth century A.D. This book refers to an astronomical observatory and its instruments established by a contemporary king Ravi Verma.

3. *Venwaroham* by Mahādevan, discusses trigonometry and planetary motions.

4. *Karaṇapaddhati* written in 1431 AD.

5. *Sadratnamāla* by Sakara Vaiman, Written in about 1530 AD.

6. *Tantra Saṁgraham* by Nilakantha, Written in about 1500 AD.

7. *Yuktibhāṣā* by Brahmadatta, Written in 1639, AD.

The last five books are in verse form and give infinite series expressions for sin x, cos x and tan x about two and half centuries earlier than in Europe. The series known as Gregory's series. For $\tan^{-1} x$ was also known in India more than two centuries earlier than in Europe.

Since astronomy is a practical subject, its success depends on the use of instruments. Ancient Indian astronomers were aware of this aspect and designed suitable instruments for astronomical measurements. In almost every book on astronomy, a chapter was devoted to the construction and use of such instruments.

The earliest instrument available in vedic times was *Tūrya* consisting of a quadrant circle with a movable tube through the centre and resting on the arc of the quadrant, which is graduated in degree and minutes. Through the tube, the heavanly bodies were observed, and the angle made by the tube with the vertical gave the zenith distance called Natansk and its complement unantash or attitude. During the *Vedāṁga Joytiṣa* period, a water clock was developed.

Chapter XIII of Sūryā Siddhānta discusses the construction of an auxiliary sphere, a *Śankuyantra* or gnomon, the *Cakrayantra, Mayura yantra*, *Vanayantra*, etc. Brahmagupta discusses, in *Brahmasphuta Siddhānta*, seventeen instruments by which observation could be made. Bhaskarācārya gave the description of an additional instrument called *Phalakyantra*. Another instrument called *Dhruvmrey Yantra* was devised by Padmanābhan in the fourteenth century. *Yantra Cintāmaṇi*, written by Cakardan, was a separate book on instruments.

An observatory appears to have been constructed at Ujjain of Avanti; it may have been at the same place where the present observatory stands. Another observatory, Man Mandir, was constructed by Raja Mansingh at Varanasi and a number of instruments were added to it by Raja Jai Singh who also built the observatory at Jaipur as well as the city Jaipur around it. He described all

instruments except *rāśivalaya* for which an effort was made by garrel in 1907 to reconstruct it. However in the process, he changed it completely. Raja Jai Singh also built the observatory at Delhi.

3. Assessment of Ancient Indian Astronomy -

We start by giving a quotation from O. Neugebauer's 'A Histroy of Ancient Mathematical Astronomy' a scholarly work comprising 3 volumes and more than 1200 pages, published in 1976.

In spite of that pioneering work done by H.T. Colebrook (1765-1837), G. Thibault (1848-1914) and others, the study of Hindu astronomy is still at its beginning. The mass of uninvestigated manuscript material in India as well as in western countries is enormous. May it suffice to remark that many hundreds of planetary tables are easily accessible in American libraries ? So far only a preliminary study of this material has been made revealing a great number of parameters for lunar planetary tables.

The Planetary tables are of great extent and based on methods so far not encountered in western materials, the basic idea being that the planetary positions are computed for a whole year as a function of the Aries. when these methods were developed, we do not know, the extent texts suggest the date of the fourteenth century AD.

This statement clearly establishes the need for a massive research effort. It is a testimonial to the originality of Indian work on astronomy.

There is a feeling that there has been some Greek influence on Indian astronomy, and two of the Siddhānta's show this influence. However, the Sūrya Siddhānta's which is purely Indian is far superior to them, and this was entirely due entirely to the great mastery of ancient Indians over arithmetic and algebra. The Greeks were superior in geometry, but astronomy required computations, and therefore the Greeks were not proficient in astronomy.

The independence of the two developments is testified by the fact that the parameters used are different; the methods of correction are different, the styles of presentation are different and mathematical backgrounds are somewhat different. Moreover, Indian astronomy was influenced much more by the needs of astronomers, Ujjain, the important centre of Indian astronomical activities, was taken as having zero longitude.

Astronomy is a practical subject, and truth in this field is obtained by successive approximations. The Hindus were always ready to give up the methods which gave wrong results, and were prepared to improve them. Starting with Panca Siddhantikā, each succeeding work gives more accurate methods than the

earlier ones.

Indian astronomy ultimately exercised greater influence on the development of modern Western astronomy, than on Greek or Babylinian system, because of the influence of arabic astronomical works on western scholars. Of special importance in Arabic astronomy was the *Khandakhādyaka* of Brahmagupta, written in 665 AD, and it known to the Arabs as the Al Arkand. Paramenters from this work and Indian planetary theories found their way, through Arabic scholars, in particular through *Al-Khwarizmī*, into Western European astronomy. The use of the zero meridian of "Arien" (Ujjain) is the most glaring example of this influence.

4. Brief history of Ancient Indian Mathematics -

(i)Sulva Sūtras : There are seven Sulva Sūtras known by the name of Bodhāyana, Āpastambh, Katyāyana, Mānava, Maitrāyaṇa, Vārāha and Vishuta. They belong to the period 800 BC to 500 BC. They explain a large number of simple geometrical constructions imparting knowledge of the following theorems:

(a) The diagonals of the rectangle divide it into two equal parts.

(b) The diagonal of rectangle bisect each other.

(c) The perpendicular, drawn from the vertex of an isosceles triangle to its base, bisects it.

(d) A rectangle and a parallelogram on the same base and between the same parallels are equal in area

(e) The diagonal of a thombus bisect each other at right angles

(f) properties of similar rectilinear figures

(g) The theorem known in the name of Pythāgoras i.e. Pythagoras theorem states that the square of the hypotenuse is equal to the sum of squares of base and perpendicular. Irrational numbers were first used here and the approximation to $\sqrt{2}$ was given. Problem in the construction of alters which required the solution of simultaneous linear equations in integers were solved and illustreated.

(ii) Jaina Mathematics belongs to the period from about 500 BC to 100 BC. It gives elementary formulae for mensuation, approximate values of square roots (eg $\sqrt{10}$ Correct to 13 places of decimals), approximation of $\sqrt{10}$, some concepts of infinity, laws of indices and the formulae for permutations and combination.

(iii) The *Bakṣālī manuscript*, found at the village Bakṣālī near Peshawar in 1081 AD, is believed to belong to the fourth century AD. It contains problems on fractions (method of false position), arithmetic and geomertic progressions, solution of indeterminate equations, approximation to surds, solution of quadratic equations and simultaneous linear eauations.

(iv) Āryabhata (476 AD) gave the algorithm for finding cube roots, sum of squares and cubes of natural numbers, approximation of π by 3.1416, mesuration formulae and tables for sin 0.

(v) *Brahmagupta* (598 AD) solved the indeterminate equation $Nx^2 + 1 = y^2$ in integers, gave the sum of geometrical progression, determined the right angled triangles and cycle quadrilaterals with rational sides, gave interpolation formulae and the formulae for the area of a cyclic quadrilateral.

(vi) *Mahāvīrcārya* wrote his famous work, *Gaṇitā-Sāra Saṁgraha*, 850 AD. It contains problems on arithemetic, on quadratic equations, on the gereral formulae for cube root, on unit fractions, on construction of cyclic quadrilaterals of any given area and circumference for the ellipse.

(vii) *Bhaskarācārya* (Born 1114 AD) wrote siddhānta Śiromaṇi at the age of thirty six, which was in the systematized mathematics known at that time. It gave formulae for surface area of a sphere and its volume, volume of frustums of a pyrāmid, problems on permutations and combinations, problems on quadratic equations and indeterminate equations. *Bhāskara* also gave some results which show that he could almost have discovered the calculus.

(viii) After Bhāskara, new mathematics was not searched except in Kerala, where a great deal of mathematical work was done. *Gaṇita Kaumudī* by Nārāyaṇa Paṇdita of the fourteenth century, and the work of *Mādhava*, are pioneers. These were followed by *Tantra Saṁgraha* and *Āryabhatiyam* of *Saṇkara Vāriyār*, *Karaṇa Paddhati, Dṛggaṇita* and *Kriyākramakari*, In these works, series for sin x, cosx, $\tan^{-1}x$, etc., are given at least two hundreds years before they were found in Europe.

(ix) The result,

$$\lim_{n-} \frac{1^p + 2^p + ... + (n-1)^p}{n^{p+1}} = \frac{1}{P+1}$$

was also given by these authors. Karaṇapaddhati gives the value of correct to 10 places of decimals, and *Sadaratnamālā* gives it correct to 17 places. Nīlakaṇṭha also clearly stated, in about 1500 AD, that the ratio of the circumference to the diameter can never be expresses as the ratio of two integers.

Hindu Mathematicians in ancient India were highly influenced by the Greeks at an early stake and by the Chinese at a later stage, but they also contributed a lot to the development and research of mathematics.

The nature of mathematics is two-fold, On the one side, it deals with quantitative relationships between sciences, etc. On the other, It postulates and seeks to carry these theorems to their logical conclusions, without any practical

use, From this point of view, mathematics can be considered as philosophy.

4.1 The Decimal System -

The first of the main aspects of mathematics has its origin in the counting, weighing and measuring needed in primitive trade. This seems to have included the invention of the numerals that developed in the Hindu - Arabic system, and the zero, which made the place value idea possible. At the time of introduction the numerals and the zero were not rated as being of particular importance. Other systems of numerals were in vogue, and these were apparently quite as valuable as the ones from which our familiar symbols were derived.

The most important fundamental contribution of ancient India to the progress of civilization is the invention of what is called the decimal system of numeration, including he invention of the number zero. The characteristic feature of the system is the usage of nine digits and a symbol for zero to denote all integral numbers, by assigning place value to the digit. This was known as the Decimal System.

A well-known archeologist, Dr. S.R. Rao, has professed a new theory, that it was the Harappans who gave to the world the decimal system of measurement and the use of gold as a medium of exchange. Dr. Rao is of the view that harappans produced gold discs which were made in a particular ratio of weight. The unit was known as gunjā, conforming to the Suvarṇa maśaka referred to in the Arthaṣāstra. The gold discs of various sizes found at Lathal and hitherto mistaken for pendants, weighed exactly 50, 100, 2500, 2750, 2800, 2900, 3000, 3250 milligrams, thus indicating a decimal system.

Dr. Rao claimed that it was the Harappans who introduced the decimal system for linear measurement and for weighing delicate objects like gold and precious stones. The divisions marked on the Lothal Ivory scale in decimal sustem the smallest known in the ancient world, each division measured 1.7 mm. However, the scales found at Harappā, Mohan-jo-dāro and Lothal were all differently marked, but were interrelated, Dr. Rao Said, "The vast structures, such as the dockyard at Lathal, were well proportioned in terms of the Lothal Linear scale, the Harappā pan measurement system was continued in later days. The ten division of the Lothal scale were equal to one angula mentioned in the arthaśāstra." According to his view, Harappans achieved "Great accuracy" in the measurement of fundamental units of length as well as time. The smallest unit of length was 1.7 mm and that a mass was 50 mg.

There is also a school of thought, which believes that, in spite of lack of direct evidence of a great deal of mathematics, the high level of Mohanjodāro and Harappa civilizations with well-planned cities, *puccā* houses with ventilation

and a highly developed irrigation system could not have been possible, without a corresponding strong development of mathematics.

4.2 Numerals and Zero Symbols -

The profundity of the invention of place numerals is understood only when one realizes the difficulty of marking progress in arithmetic using other systems, such as the Greek systems of numerals I, II, X, C, etc. The Greek method of representing numbers by geometrical segments, and the slow progress of mathematics in the West, before the advent of the Indian systems in the West, are glaring examples of the handicaps which the people were realizing, because they were not acquainted with the Indian decimal system.

The importance of the decimal systems of numeration can best be appreciated in the words of Laplace (1749-1827), one of the greatest mathematicians of all time. He wrote "the idea of expressing all quantities by nine figures (or digits), where by is imparted to them both an absolute value and by position, is so simple that this very simplicity is the reason for our not being sufficiently aware how much admiration it deserves".

The invention of a symbol for zero came time after the idea of a zero becomes common property. Thus the men who devised numerals and a symbol for zero did a great service to civilization. Neither the names of these persons nor the period when they lives are known with identity, as it was not until the numerals had not been in use for centuries. Limit was also become the history of mathematics in India reached the stage of preserving the names of important contributors, much later.

In an article in the American Mathematical Monthly, Professor G.B. Holstead shows that the zero existed in India at the time of Pingala's work *Candas-Sūtra* a work on prosody before 200 BC. He remarks : the importance of the creation of the zero mark can never be exaggerated. This going to carry nothing, habitation and a name, a picture, symbol, but helpful power, is the characteristic of Hindu race whence it sprang It is like coining the *Nirvāṇa* into synamos.

No. Single mathematical creation has been more potent for the general on go of the intelligence and power. In fact the zero symbols was used in metric by Pingala (before 200 BC) in his Chāndas-Sūtra.

5. Concluding Remarks -

(i) There are many difference between Greek and Hindu mathematics. In the first place, the Hindus who worked in mathematics regarded themselves, primarily as astronomers; consequently, Hindu mathematics remained largely a handmaiden to astronomy, where Greek mathematics attained an independent

existence. Also due to the caste system in India, Mathematics in India was cultivated almost entirely by the priests. While in Greece, mathematics was open to anyone who wanted to study the subject.

(ii) The achievements of Hindu astronomy are impressive, but these became subservient to some extent to astrology. After the invention of the telescope, western astronomy moved repidly forward. However, most of our calculations are still based on Sūrya Siddhānta. We have to update our ancient calculation algorithms in the light of modern developments in observational and theoratical astronomy.

(iii) Indian astronomy did not get as much recognition abroad as it should have, partly because of prejudices of foreigners and partly because of the vagueness of its predictions and lack of sufficient efforts to explain these lucidly.

(iv) Efforts were not made to study the development of mathematics and astronomy in ancient Babylonia, Egypt, China, Arabia, etc. to find out the interaction between India and other civilizations.

(v) It may be noted that we have not included sixteen sūtra and thirteen sūtra ascribed by *Swamī Bharti Krishna Tirtha* to vedas. According to Swamī ji form these sūtras the answer to every question can be obtained in one line only. This is because of the fact that there is absolutely no evidence of these sūtras being part of Vedas or having influence on later development of mathematics in India or in the world.

Received : 29.03.11

पागद - विज्जा

प्राकृत विद्या

प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका

सम्पादक : प्रो. वीरसागर जैन

प्रकाशक : श्री सुरेशचन्द्र जैन अध्यक्ष
कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, महरौली
नई दिल्ली-110067

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा स्थापित

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा जैन साहित्य के सृजन, अध्ययन, अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 1992 में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार की स्थापना की गई है। इसके अन्तर्गत विगत 5 वर्षों में प्रकाशित/अप्रकाशित चयनित कृतियों के लेखक को रू. 25,000/- की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति पत्र से सम्मानित किया जाता है। हिन्दी / अंग्रेजी में लिखित कृति का चयन त्रिसदस्यीय निर्णायक मंडल द्वारा किया जाता है।

गत वर्षों में पुरस्कृत विद्वानों एवं उनकी कृतियों का विवरण निम्नवत् है –

1993 **संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर,** *'प्रतिष्ठा प्रदीप'*

1994 **प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जबलपुर,** ***'The Tao of Jaina Sciences'***

1995 **प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर,** *'जैन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व'*

1996 **डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर**
'जैन धर्म स्वरूप विश्लेषण एवं पर्यावरण संरक्षण **(अप्रकाशित)** एवं
आचार्य गोपीलाल 'अमर', दिल्ली
'Jaina Solution to the Pollution of Environment (Unpublished)'

1997 **अप्रदत्त**

1998 **प्रो. राधाचरण गुप्त, झांसी,** *'जैन गणित* **(अप्रकाशित)'**

1999 **डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, इन्दौर,** *'हिन्दी के जैन विलास काव्यों का उद्भव और विकास* **(वि.सं. 1520-1999 तक) (अप्रकाशित)'**

2000 **डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन, रुद्रपुर,** ***'Jaina & Hindu Logic'***

2001 **डॉ. संगीता मेहता, इन्दौर**
'जैन संस्कृत साहित्य के आलोक में वर्द्धमान महावीर – एक अध्ययन ***(अप्रकाशित)'***

2002 **डॉ. अनिलकुमार जैन, अहमदाबाद,** *'जीवन क्या है?'*

2003 **प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद,** *समय के शिलालेख एवं चिन्तन प्रवाह*

2004 **डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, दिल्ली,** *दार्शनिक समन्वय की दृष्टिः जैन नयवाद एवं*
डॉ. सुशीला सालगिया, इन्दौर
'जैन विषयवस्तु से सम्बद्ध आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सामाजिक चेतना'

2005 **प्रो. महावीर राज गेलड़ा, जयपुर,** ***'Science in Jainism'***

2006 **प्रो. नलिन के. शास्त्री, दिल्ली,** *'नमामि का सम्पादन'*

2007 **अप्रदत्त**

2008 **डॉ. सविता जैन, उज्जैन,** *'जैन साहित्य लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन के क्षेत्र में समग्र योगदान'*

2009 **प्रो. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर,** *'प्राकृत भाषा, साहित्य के अध्ययन, अनुसंधान एवं प्रचार हेतु'*

2010 एवं 2011 के पुरस्कारों की घोषणा शीघ्र की जायेगी।

डॉ. अजित कासलीवाल	**प्रो. ए.ए. अब्बासी**	**डॉ. अनुपम जैन**
अध्यक्ष	मानद निदेशक	मानद सचिव

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

30.06.11

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन धर्म दर्शन : जीवन जीने की कला

■ उषारानी शर्मा *

धर्म और दर्शन मानव जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी हैं। धर्म का आधार मुख्य रूप से विश्वास, भक्ति, श्रद्धा एवं आस्था है। जब मानव चिंतन सागर में निमग्न होता है, तब दर्शन का और जब चिन्तन का अपने जीवन में उपयोग करता है, तब धर्म का प्रादुर्भाव होता है।

धर्म और दर्शन परस्पर सापेक्ष हैं। एक दूसरे के पूरक हैं। मानव जीवन की विविध समस्याओं हेतु धर्म और दर्शन का जन्म हुआ है। चिंतकों ने धर्म में बुद्धि, भावना और क्रिया ये तीन तत्त्व माने हैं। बुद्धि से ज्ञान, भावना से श्रद्धा और क्रिया का तात्पर्य आचार से है। धर्म, दर्शन का अंग है। धर्म स्वयं अनुभूत सामग्री है जिसमें धर्म के संबंध में विचार नहीं किया जाता बल्कि व्रत, प्रार्थना आदि व्यापार रहते हैं। धर्म किसी मूल्यमय अस्तित्व के प्रति आस्था तथा निष्ठामय जीवनयापन को भी कहा जा सकता है। अतः धर्म से दर्शन को व्यापक समझा जाता है। धर्म, दर्शन में बुद्धि तथा तर्क को ही धर्म संबंधी सत्यता सिद्ध करने का आधार माना जाता है। दर्शन वह शास्त्र है जिसमें तर्क बुद्धि को ही ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र विश्वसनीय साधन माना जाता है। इसमें धर्म का संबंध आचार से है और दर्शन का संबंध विचार से है। जैन शब्द की व्युत्पत्ति **'जिन'** से मानी गई है। इसका अर्थ होता है विजेता अर्थात् वे व्यक्ति जिन्होंने अपने जीवन में मन एवं कामनाओं पर विजय प्राप्त करके सदा के लिए आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इन्हीं जिनों के उपदेशों का पालन करने वालों को जैन कहा जाने लगा तथा उनके सम्प्रदाय के सिद्धांत जैन दर्शन अथवा जैन धर्म के नाम से विख्यात हुए।

जैन धर्म तथा दर्शन अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण संसार के विचारकों के लिए आज भी आकर्षण का केन्द्र बिन्दु हैं। प्रत्येक धर्म के दो अंग होते है। विचार एवं आचार।

जैन धर्म के विचारों का मूल है **स्याद्वाद** और आचार का मूल है **अहिंसा।** जैन दर्शन मुख्य रूप से आचार और विचार से उत्पन्न होता है। आचार में अहिंसा एवं विचार में अनेकान्तवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली जैन परम्परा धर्म और दर्शन को अपने में संजोए हुए है। जैन धर्म सत्य को सत्य, असत्य को असत्य मानता है। अन्य के द्वारा कहे हुए सत्य को भी यह उदार हृदय से स्वीकार करता है। यह प्राणी मात्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण यह विश्व धर्म माना जाता है। जैन धर्म के तीर्थंकर अपने से पहले हुए तीर्थंकरों के सिद्धांतों का ही निरूपण करते हैं। इस धर्म के सिद्धांतों में परस्पर विरोध नहीं है।

अहिंसा की दिव्य ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन व्यवहार के क्षेत्र में **स्याद्वाद** के रूप में जगमगाती है और समाज शांति के लिए **अपरिग्रह** के रूप में स्थिर आधार बनाती है।

धर्म आत्मा के सदगुणों के विकास का नाम है। सदगुणों के विकास अर्थात सदाचार धारण करने में किसी प्रकार का बंधन स्वीकार्य नहीं हो सकता। राजनीति व्यवहार के लिए कैसी भी चले किन्तु धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिए समान भाव से सुलभ हो यही तीर्थंकरों की अहिंसा और

समता का लक्ष्य था। इसी लक्ष्य निष्ठा ने धर्म के नाम पर किए जाने वाले पशु यज्ञों को निरर्थक सिद्ध कर दिया था। अहिंसा का झरना हृदय से एक बार जब झरता है तो वह मनुष्यों तक ही नहीं, प्राणी मात्र के संरक्षण और पोषण तक जा पहुंचता है।

जैन धर्म में हिंसा को दो भागों में विभाजित कर दिया गया है द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। जब किसी को मारने, सताने अथवा असावधानता का भाव न होने पर भी दूसरे का घात हो जाता है तब उसे द्रव्य हिंसा कहते हैं और जब किसी को मारने या सताने अथवा असावधानता का भाव होता है तब उसे भाव हिंसा कहते हैं। वास्तव में भाव हिंसा ही हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसा के साथ संबंध है किंतु द्रव्य हिंसा के होने पर भाव हिंसा अनिवार्य नहीं है। जिस व्यक्ति द्वारा किसी का घात हो जाता है या किसी को कष्ट पहुंचता है उस व्यक्ति की मानसिकता ही ऐसी थी, ऐसा एकान्तरूप से नहीं कहा जा सकता। अतः जहां कर्त्ता के भावों में हिंसा है वहीं हिंसा है, चाहे उसके द्वारा कोई मारा जाए या न मारा जाए। जहां कर्त्ता के भावों में हिंसा नहीं है, वहां हिंसा नहीं, भले ही उसके निमित्त से किसी की जान चली जाए।

यदि द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को इस प्रकार पृथक् न किया गया होता तो कोई भी अहिंसक न बन सकता और यह आशंका सदैव बनी रहती है कि -

जले जंतु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

अर्थात् जल में जंतु हैं स्थल में जन्तु हैं, आकाश में भी जंतु है। इस प्रकार जब समस्त लोक जंतुओं से व्याप्त है तो कोई मुनि कैसे अहिंसक हो सकता है। इस शंका का उत्तर इस प्रकार दिया जाता है -

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूल मूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्जयन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

अर्थात् जीव दो प्रकार के होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। जो जीव सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य होते हैं उन्हें तो कोई पीड़ा दी ही नहीं जा सकती। स्थूल जीवों में जिनकी रक्षा की जा सकती है, उनकी की जाती है। अतः जिसने अपने को संयत कर लिया है उसे हिंसा का पाप कैसे लग सकता है।

इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य जीव हिंसा का भाव नहीं रखता अपितु उनको बचाने का भाव रखता है व अपना प्रत्येक कार्य ऐसी सावधानी से करता है जिससे किसी को कष्ट न पहुंचे उसके द्वारा जो द्रव्य हिंसा हो जाती है उसका पाप उसको नहीं लगता। अतः जैन धर्म की हिंसा भावों पर निर्भर है इसलिए कोई भी बुद्धिमान उसे अव्यवहार्य नहीं कह सकता। अहिंसा ही एक मात्र उपाय है, जिस पर चलकर सभी मार्गों का ज्ञान हो जाता है।

यह संसार एक अवसर है, ऐसे अवसर को पा जाने के बाद प्रमाद नहीं करना चाहिए। दूसरे प्राणियों को अपने ही समान देखना चाहिए। किसी भी प्राणी की सभी तरह की हिंसा से दूर रहना चाहिए। अहिंसा सम्यक् चारित्र का प्रमुख उपादान है। स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर, किसी भी जीव की मन, वाणी या शरीर से हिंसा नहीं करनी चाहिए।

जैन दर्शन एक वस्तु में अनंत धर्म मानन है। इन धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु के जितने धर्मों का कथन हो सकता है वे सब धर्म वस्तु के अंदर रहते हैं । व्यक्ति अपनी इच्छा से उन धर्मों का पदार्थ पर आरोप नहीं करता। अनन्त धर्मों के कारण ही वस्तु अनन्त धर्मात्मक या अनेकान्तात्मक कहीं जाती है।

अनेकांत के विषय में कहा गया है - जो वस्तु सत्य स्वरूप है वह असत्यस्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वह अनेक भी है। जो वस्तु नित्य है वह अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु के वस्तुत्व के कारणभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन अनेकान्त है।

अनेकांत दर्शन विचारों की शुद्धि करता है। वह मानवों के मस्तिष्क से दूषित दृढ़ पूर्ण विचारों को दूर कर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए प्रत्येक मनुष्य का आह्वान करता है। इसके अनुसार वस्तु विराट एवं अनन्त धर्मात्मक है। अपेक्षा भेद से वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते है। उन अनेक धर्मों में से प्रत्येक धर्म परस्पर सापेक्ष है। वे किसी एक ही वस्तु में बिना किसी वैर भाव के प्रेमपूर्वक रहते है। विरोधी होते हुए भी उनमें परस्पर विरोध का अवसर नहीं आता। उनमें कभी झगड़ा नहीं होता। अनेकांत से अनेक धर्म समता की तरह मानव समता का ज्ञान होने ने सब झगड़ों का सदा के लिए अन्त सम्भव है। इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन में उन्नत जीवन जीने की कला निहित है। हमें उस कला को अवश्य सीखना चाहिए।

प्राप्तः 15.11.10

*** व्याख्याता - संस्कृत**

एम.एस.जे. कॉलेज, भरतपुर (राजस्थान)

सम्पर्क : W/o श्री हरिओम गौतम

दिव्य सदन, पुराने लक्ष्मण मंदिर के पीछे, भरतपुर (राज.)

अर्हत् वचन सदस्यता शुल्क

	भारत		विदेश
	व्यक्तिगत	संस्थागत	
वार्षिक	150=00	250=00	US$20=00
10 वर्षीय	1500=00	2500=00	US$ 200=00
आजीवन/सहयोगी	2100=00	--	US$ 300=00

नोट - चेक कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के नाम भेजें।

राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ
श्री धवलतीर्थ , श्रवणबेलगोला - 473135

दूरभाष : 08176-257228, 257132, टेलिफेक्स : 257927 Email : mynipsar@yahoo.co.in

पत्राचार द्वारा प्राकृत पाठ्यक्रमों में प्रवेश

विद्यापीठ के प्राकृत संस्थान में संचालित निम्नांकित प्राकृत पाठ्यक्रमों में पत्राचार के द्वारा हिन्दी/कन्नड़ माध्यम से प्रवेश लें। निर्धारित प्रवेश आवेदन पत्र तथा पाठ्यक्रम विवरणिका के लिए सादे कागज पर शीघ्र प्राकृत संस्थान के निदेशक या परीक्षा प्रभारी को आवेदन करें।

विभिन्न पाठ्यक्रम					
क्रं.	पाठ्यक्रम	प्रश्नपत्र	न्यूनतम योग्यता	वार्षिक शुल्क	परीक्षा-संपर्क शिविर
1	प्राकृत प्रवेशिका (1 वर्ष) (Prakrit Entrance)	1	साक्षर	रु. 150-00	फरवरी/मार्च
2.	प्राकृत प्रथमा (1वर्ष) (Prakrit Certificate)	2	आठवीं कक्षा उत्तीर्ण	रु. 250-00	
3.	प्राकृत मध्यमा (1 वर्ष) (Prakrit Diploma)	4	दसवीं कक्षा उत्तीर्ण	रु. 500-00	
4.	प्राकृत रत्न (2 वर्ष) (P.G. Prakrit Diploma)	8	बारहवीं कक्षा उत्तीर्ण	रु. 1500-00 (प्रतिवर्ष)	

योग्यता :
(क) प्रारंभिक तीन पाठ्यक्रमों में क्रमशः साक्षर/8वीं कक्षा उत्तीर्ण 10वीं कक्षा उत्तीर्ण कोई भी व्यक्ति आवेदन पत्र भरकर देश के किसी भाग से प्रवेश ले सकता है।

(ख) रत्न पाठ्यक्रम में 12वीं/प्राकृत मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण/किसी संकाय में ग्रेजुएट (स्नातक) व्यक्ति आवेदन पत्र भरकर देश के किसी भाग से प्रवेश ले सकता है।

परीक्षा का माध्यम - हिन्दी अथवा कन्नड़, पत्राचार द्वारा

सम्पर्क शिविर एवं घटिकोत्सव (दीक्षान्त समारोह) - सभी प्राकृत पाठ्यक्रमों के पंजीकृत विद्यार्थियों का वर्ष में एक सम्पर्क शिविर (2-3 दिन का) आयोजित होगा। परीक्षा में सफल प्रत्याशियों का दीक्षान्त का दीक्षान्त समारोह भी आयोजित किया जायेगा।

विवरणिका एवं आवेदन पत्र - अधिक जानकारी एवं पाठ्यक्रमों में पंजीयन/प्रवेश हेतु सादे कागज पर अपनी योग्यता का विवरण देते हुए विवरणिका एवं आवेदन पत्र मंगाने के लिए उक्त पते पर संस्थान निदेशक को पत्र भेजें। या अपने नगर के प्राकृत समन्वयक से सम्पर्क करें।

उपर्युक्त पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए भरा हुआ आवेदन पत्र एवं निर्धारित शुल्क का डिमांड ड्रॉफ्ट 'National Institute of Prakrit Studies and Research, Shravanabelagola' के नाम से प्रतिवर्ष 31.08.11 तक भिजवाना है। अधिक जानकारी के लिए संस्थान के निदेशक प्रो. प्रेमसुमन जैन - 0948030266, 09413371053 या परीक्षा प्रभारी श्री राजेन्द्र पाटील शास्त्री - 09448334112, 07795708429 से संपर्क करें।

कुन्कुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर इन सभी पाठ्यक्रमों का परीक्षा केन्द्र है। एतदर्थ कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ में भी जानकारी उपलब्ध है। आवेदन पत्र भी उपलब्ध है।

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अंतर पीड़ा की अपील

■ सुरेश बाफना *

सारांश

श्वेताम्बर जैन परम्परा के वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता बंधुओं ने जैन धर्म संघ में बढ़ रहे शिथिलाचार पर अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए यह आलेख गत वर्ष भेजा था। वर्षायोग के प्रारंभ में प्रकाशित इस अंक में यह टिप्पणी इस भावना से प्रकाशित है कि सभी वर्ग स्वयं के आचरण में परिष्कार कर धर्म प्रभावना में योगदान देवे। यह आज भी इतनी ही सामायिक है जितनी गतवर्ष।

- सम्पादक

जैन साधु सही मायने में देखा जाय तो इस विश्व का सर्वश्रेष्ठ आश्चर्य होगा। जिस दिनचर्या में जैन साधु जीते हैं वह भौतिकता के पीछे पागल इस विश्व के लिए अविश्वसनीय लगती है। पर समाचार पत्रों में स्वयं देखकर व अन्य माध्यमों से यह ज्ञात होने पर कि संयम वेश में कुछ जैन साधु राजनैतिक, सामाजिक एवं व्यवसायिक जाहिर कार्यक्रमों में अपनी भूमिका देकर राजनीतिक प्रचारक, सामाजिक सेवक व व्यावसायिक परामर्शदाता की भूमिका निभाते देखकर एवं उन्हें निरन्तर वाहन का उपयोग व अन्य जिनाज्ञा विरुद्ध आचरण करते देखकर अत्यंत पीड़ा का अनुभव होता है कि वे मुनिवेश धारण किये किस ओर जाकर क्या काम कर रहे हैं।

संसार की सबसे निम्न कक्षा की यदि कोई नीति है तो वह है राजनीति, जिसमे जिनाज्ञा का पालन करने का कोई साधन मौजूद नहीं हो सकता है और जहां जिनाज्ञा का पालन सम्भव नहीं वहां जैन साधु की दखलंदाजी व चाह बहुत दुःखदायी है। सामाजिक उत्थान के लिए भी संसार त्यागी जैन साधु का प्रेरणा देना अयोग्य है व किसके साथ व्यवसाय करना, न करना इस की प्रेरणा देना भी साधु के लिए जिनाज्ञा सम्मत नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन में 'स्वाध्याय' का विवेचन करते हुए पाँचवे स्वाध्याय 'धर्मकथा' के विवेचन में स्पष्ट कहा है कि 'धर्मकथा' यानि अहिंसा आदि लक्षण के युक्त सर्वज्ञ कथित धर्म का व्याख्यान करना जिससे अन्य को वैराग्य की उत्पत्ति हो और मोक्षाभिलाषी बने। एकदम स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जैन साधु अहिंसा के लक्षणयुक्त प्रेरणा दें जिससे श्रावक को वैराग्य की उत्पत्ति हो व मोक्षमार्गी बने। जैन साधु कतई राजनीतिक बातें करके श्रोता को राजनीतिक वोट की निश्चितता करने को कहे या व्यावसायिक प्रेरणा देकर अर्थोपार्जन हेतु संगठन बनाने की बातें करे जिससे व्यवसाय फले फूले तो यह स्पष्टतः जिनाज्ञा विरुद्ध आचरण है व अपने आप को अचारित्रिक होने का प्रमाण देना है। साधु स्वयं अर्थोपार्जन से अलग हो चुका है, त्रिविध विराम को उसे प्रत्याख्यान है तो वह किस तरह ऐसी बातों की प्रेरणा दे सकेंगे?

जैन साधु अपनी आत्मा के उत्थान के लिए पूर्णरूपेण स्वार्थी होना चाहिए, अपनी आचरणा का पालन करते हुए यदि समय मिले तो श्रावक को सिर्फ संसार की असारता की व्याख्या करके वैराग्य लेने की भावना उत्पन्न करवानी चाहिए, यदि कोई जीव सम्पूर्ण वैराग्यवान न बन सके तो श्रावक को बारह व्रतधारी बनने की प्रेरणा के अलावा और कोई प्रेरणा देना अनधिकार चेष्टा है व यह सरासर

जिनाज्ञा के विरुद्ध है। कोई श्रमण वेश में सज्ञ व्यक्ति अपनी मर्यादा छोड़कर यदि ऐसी प्रेरणा दे रहा हो तो प्रबुद्ध श्रावक समाज को इसका पुरजोर विरोध करना चाहिए व सभी उपायों द्वारा ऐसी कुप्रवृत्तियों को रोकना चाहिए।

साधुधर्म कहता है कि साधु को राजनीति व हिंसक कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और अपने पाँच महाव्रतों के पालन में रुकावट बने वे कार्य उन्हें नहीं करना चाहिए, पर आज के कुछ साधुगण हिंसायुक्त कारखानें व व्यवसाय बढ़े इसके लिए जैन एकता के नाम पर व्यवसायिक संगठन (संस्था) का समर्थन ही नहीं , पर उसका प्रायोजन भी करते हैं। क्रिकेट जैसे छः-जीव निकाय के कत्लखाने समान खेलों का प्रायोजन करके उसमें रात को भी मुनिवेश में निश्रा देकर टी.वी. पर साक्षात्कार देकर उसे सही ठहराते हैं। जैन साधु व्यवसाय व कारखानें बढ़े उसके प्रायोजन तो बहुत दूर पर मंदिर, धर्मशाला, उपधान तप, छः रीपालित संघ के भी प्रायोजक नहीं हो सकते हैं यह सब उनकी संयम जीवन की आचरणा के विरुद्ध है। कहां वैराग्य की उत्पत्ति व मोक्षमार्गी बनाने की प्रेरणा व कहां कारखानें व व्यवसाय बढ़ाने की प्रेरणा देना। इस प्रेरणा से संसार असार न लगकर और प्यारा लगे व पापवृत्ति में रहकर जीव भव बढ़ाने के कार्य करें। मंदिर, धर्मशाला उपद्यान व संघों के लिए भी सिर्फ ये उपदेश दे सकते हैं पर उनका आयोजन नहीं कर सकते, पर आज शासन के कार्य, जैन एकता व शासन प्रभावना के नाम पर स्वयं ही इन सबका वैभवी आयोजन करते हैं व स्वयं मोबाइलों द्वारा फोन करके, स्वयं मृषावादका सेवन कर अन्यों को संघपति बनाकर स्वयं इन आयोजनों-प्रोजेक्टों को क्रियान्वित करने का कार्य करते है जो श्रमणों की उत्तम मर्यादाओं का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन होने से अत्यंत दुःखदायी है। शक्तिशाली श्रावक इसकी उपेक्षा करे तो वह भी पाप का भागीदार है।

कभी-कभी और यह लिखने से पहले हमें भी यह भ्रम था कि साधु के बारे में व उनकी आचरणा के बारे में भी कुछ कहने से मध्यस्थ रहकर मौन रहना हितावह है पर सूरि पुरंदर पूज्य आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी महाराज द्वारा रचित **'सम्बोध प्रकरण'** ग्रंथ जिसमें 171 गाथाओं में 'साधु में कौन वंदनीय व कौन अवंदनीय? की जो व्याख्या की है व इस ग्रंथ के गाथा नं. 128 **'आणाभंगं दट्ठुं मज्झत्थनु ठयंति जे तुसीणा। अविहिअनुमोयणाए तेसिं पि य होई वयलोवो'** इसका अर्थ करते लिखा है कि आज्ञा का भंग होता देखकर भी जो मध्यस्थ होकर मौन रहते हैं, अविधि के अनुमोदक होने के कारण उनके व्रत का भी लोप होता है। यानि कि चाहे वो साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जो जिनाज्ञा का भंग होता स्वयं देख समझ रहे हैं, फिर भी अनदेखा करके आँख मूंद लेते है तो वे आज्ञा भंग के अनुमोदक हैं और वह आज्ञाभंगादि पाप बढ़ने और फैलने का अवसर देकर धर्म क्षति करने वाला हैं व ऐसा व्यक्ति अपने व्रतों के प्रति उदासीन कहलाता है। यह पढ़कर मुझे यह लिखने व अपील करने का मन बना है।

साधुवर्ग से वंदनीय निवेदन -

आपने इस काल का सबसे सुन्दर व विरला चारित्रधर्म अंगीकार किया है। कितने बड़े पुण्योदय से आपने चारित्र पाया है। आप हमारे से कितने ज्यादा भाग्यशाली हो। आप ज्ञानी हो व हमारे मार्गदर्शक हो। आप जिन शासन के रक्षक हो व हमारे मार्गदर्शी हो। यदि आप संयम मर्यादा में रहोगे तो हमें भी संयमी बनने में आप पथ प्रदर्शक बनोगे। आप ही हमें वीतराग के द्वारा प्ररूपित धर्म को सही मायने में दिखा सकते हो। आप हम सबके प्रेरणादायी हो। आप जो करते हो व जिस तरीके को

अपनाते हो उसे ही हम जिनाज्ञा द्वारा किया कार्य मानते हैं , अतः आपसे नतमस्तक होकर निवेदन करते हैं कि कृपया आप इस तरीके के राजनीतिक व व्यवसायिक प्रपंचों में पड़कर अपने निर्मल चारित्र को दूषित मत करिये। अपनी आत्मा की ओर लक्ष्य रखकर हमारे प्रेरणादायी बने। हम अज्ञानी आपकी क्रियाओं को शासन सम्मत समझकर कहीं जिनाज्ञा विरुद्ध काम न कर बैठे इसका ध्यान आपको अपने आचरणों में रखना होगा। हमारी आपसे निम्नलिखित अपेक्षाएं व विनती हैं -

1. किसी भी प्रकार के आयोजनों से दूर रहें।

2. किसी भी प्रकार के प्रोजेक्ट चाहे वो मंदिर, धर्मशाला, हॉस्पीटल, स्कूल या तीर्थ के हो, का अपने द्वारा क्रियान्वयन न करें ।

3. किसी संस्था में ट्रस्टी, कार्यवाहक, संचालक जैसा कोई भी पद न ले।

4. बिहार में अपने साथ रसोड़ा रखना व वाहनादि रखने से परहेज करें।

5. किसी भी प्रकार के डोरों, धागों या चमत्कार के प्रायोजन न करे। होम हवन आदि मिथ्यात्ववर्धक विधि में न पड़े।

6. फोन, मोबाइल, लेप्टॉप एवं कम्पयूटर्स का उपयोग न करे। कोई भी इलेक्ट्रिकल या इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का उपयोग न करें।

7. माईक, पंखे, कूलर एवं एयरकंडीशन के उपयोग से परहेज करें ।

8. आवश्यक सारी कियाओं को सार्वजनिक रूप से करने का ध्येय रखे।

9. सुगुरु, गच्छवास की मर्यादाओं का भलीभांति पालन करें।

उपरोक्त विनती करने का प्रमुख कारण यह है कि जो आचरण कंचन , कामिनी व हिंसा आदि का प्रसंग कराने वाला है, जिसमें दोषों की सम्भावना, पराधीनता और आज्ञा भंग का भय उपस्थित है वह मार्ग शास्त्र सम्मत नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार मोटर, रेल, हवाई जहाज, मोबाइल आदि फोन का उपयोग, होमादि करना, डोरे धागे करने, माईक टेप-वीडियो-ओडिओ कैसेट, सीड़ियों , डीविडियों का उपयोग, कार्यक्रमों का आयोजन करना, षट्जीवनिकाय की विराधना, आर्त्त-रौद्र ध्यान और पराधीनता आदि का दोष लगना स्वाभाविक है व संयम की रक्षा कठिन हो जाती है। खुद के संयम धर्म का नाश करके दूसरों को सुधारना अनुचित है। जो स्वयं पतित व शिथिलाचार में पड़ेगा वह दूसरों का सुधार नहीं पायेगा। **'आत्मार्थे सर्व त्यजेत'** अनाचार पोषक आचार-विचार व प्ररूपणा से आत्म धर्म को बाधा पहुंचती है और आत्मधर्म की रक्षा के लिए यह अत्यंत जरूरी है। अपनी आत्मा के उत्थान के लिए सबसे पहले तात्विक अर्थ में स्वार्थी बनना अत्यावश्यक है। स्वार्थ में ही परमार्थ निहित है।

श्रावक वर्ग से निवेदन -

श्रावक भाईयों से इतना ही निवेदन है कि उपरोक्त प्रकार के कार्यों का निषेध करने से हमें दोहरा लाभ होगा एक तो हम साधु के शुद्ध चारित्र पालन के निमित्त बनेंगे व उनकी आत्मा के उत्थान में सहायक बनेंगे व हम भी शुद्ध चारित्रवान से प्रेरणा लेकर अपनी आत्मा का भी उत्थान कर सकेंगे। अतः निम्न कार्यों का निषेध करें -

1. कोई भी कार्यक्रम यदि स्वयं साधु साध्वी द्वारा प्रायोजित हो तो उसमें भाग न ले।

2. किसी भी साधु द्वारा यदि फोन किया जावे तो उन से बात न करें व उन्हें कहे कि फोन करना शास्त्र सम्मत नहीं है।

3. साधु द्वारा प्रायोजित कार्य के संघपति न बनें।

4. साधु द्वारा प्रायोजित अथवा प्रेरित शास्त्र विरुद्ध होमादि कार्य में हिस्सा न ले।

5. साधु द्वारा वाहन उपयोग, फोन उपयोग, संडास उपयोग अथवा अन्य बिजली संचालित उपकरणों के उपयोग का विरोध करें व ऐसी वस्तुएं उन्हें न वोहराएं।

6. साधु को किसी भी संस्था के संचालन वही वट का कोई पद न दें व लेने को कहे तो विवेकपूर्वक विरोध करे।

सभी गांवों के संघ प्रमुख, व्यवस्थापकों व ट्रस्टियों से निवेदन -

साधु धर्म की रक्षा करनी एवं साधुओं की आचरणा का पालन करने में सहायक बनना हम सकल संघों का दायित्व है। इसे जिनाज्ञा समझकर पालन करना हमारा धर्म है अतः निम्न विनंतियों के बारे में कार्य करने का उपयोग रखे :

1. किसी भी पौषधशाला में बिजली का कनेक्शन न रखें।

2. किसी भी साधु को बिजली युक्त सुविधाएं, पंखे, कूलर , एयरकंडिशन, फोन, मोबाइल इत्यादि की सुविधा पौषधशालाओं में या अन्यत्र कही भी न दे एवं न दिलवाने का उपयोग रखे।

3. सामान्य संयोगों में सामने से गोचरी की व्यवस्था न करे।

4. सामान्य संयोगों में वाहन व्यवस्था (व्हील चेयर) की व्यवस्था न करावे।

5. चातुर्मास व प्रायोजन (उपधान, महोत्सव इत्यादि) अशक्त व बीमारी के अलावा स्थिरवास पर रोक लगाए एवं स्थायी रूम की व्यवस्था विशेषतः तीर्थ स्थान पर न करें।

6. गच्छ एवं एक दूसरे साधु समुदाय में आपस में सामंजस्य रहे वह निष्कारण संघर्ष का वातावरण न बने इसलिए पूर्णरूपेण ईमानदारी से काम करें।

अतः हम सभी धर्मप्रेमी जिनाज्ञा के पालक श्रावकों का कर्तव्य है कि इस प्रकार की साधुओं की संयम मर्यादानाशक राजनीतिक व सामाजिक, व्यवसायिक कार्यों में रुचि, प्रेरणा एवं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहभाग रूप पार को रोक कर उन साधुओं के दीक्षा समय की उत्तम भावनाओं के अनुरूप शुद्ध चारित्र के पालन में सहायक बनें जिससे उन्होंने जिस उद्देश्य से दीक्षा ली है और उनके गुरुजनों ने जिस उद्देश्य से दीक्षा दी है वह पूर्ण हो और वे अपने स्वयं की आत्मा के उत्थान में प्रयत्नरत रहकर हम सभी को तारने में सहायक बन सके।

इसी कामना के साथ जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी यदि लिखा हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

प्राप्तः 23.09.10

*** 15, दुरु महल, चौथा माला,**
84, मरीन ड्राइव
मुम्बई - 400020

(यह टिप्पणी श्री बाफना के साथ 3 अन्य महानुभावों द्वारा संयुक्त रूप से लिखी गयी है–सम्पादक)

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर - 2011, 87-88

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जन्म शताब्दी समारोह वर्ष : 2011 पर विशेष

विद्वद्वर्य डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य

■ भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' *

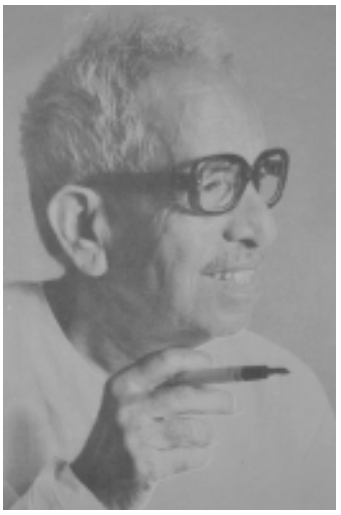

जिस तरह हिन्दी जगत में बाबू गुलाबराय एम.ए. तथा श्यामसुन्दरदास बी.ए. उपाधियों के साथ जाने जाते हैं उसी तरह प्राच्य विद्या-जगत् डॉ. (पं.) पन्नालाल जी जैन को 'साहित्याचार्य' की उपाधि के साथ जानता रहा है। यदि भूल से वह उपाधि नाम के साथ न लगी हो तो एक तरह की अपूर्णता का अहसास होता था और हम किसी और व्यक्ति के भ्रम में पड़ जाते थे।

पंडित पन्नालाल जी संस्कृत भाषा के न केवल अधिकारी विद्वान् माने जाते थे, अपितु इसी भाषा के सुकवि और अच्छे लेखक भी। अच्छे चिंतक और विचारक भी, सफल टीकाकार और सम्पादक भी, आदर्श शिक्षक और व्यवस्थापक भी कहे जाते थे। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का बाल्यकाल कैसा बीता होगा इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते हैं। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात।' की कहावत पंडित जी के जीवन में पूर्णतः चरितार्थ होती दिखाई देती थी।

आज से 100 वर्ष पहले शिक्षा के साधन अत्यन्त सीमित थे। पंडित जी ने सागर की जैन संस्कृत पाठशाला में अध्ययन प्रारंभ किया। प्रतिभा किसी भी परिवेश और परिस्थिति में प्रकट हुए बिना नहीं रहती, ठीक उसी तरह जिस तरह बीजांकुर कठिन धरती को चीरकर अपनी कोमलता और मनोहरता को साथ लिये आ निकलते हैं। पंडित जी ने संस्कृत भाषा और उसके साहित्य, जैन दर्शन और उसके सिद्धांत को भली भांति हृदयंगम किया। वाराणसी और सागर ये दो स्थान ही पंडित जी के विद्यार्जन के प्रमुख केन्द्र रहे हैं।

प्रातः स्मरणीय पूज्य संत गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य की प्रेरणा से 1931 में सागर के श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय में साहित्याध्यपक के रूप में कार्य आरम्भ किया जो अनवरत रूप से 1972 तक चलता रहा। बाद में आप इसी महाविद्यालय के 1972-83 तक प्राचार्य रहे। सन् 1986 से जीवन पर्यंत आप वर्णी गुरुकुल, जबलपुर को मानद निदेशक के रूप में अपनी सेवाएं देते रहे हैं।

बहुचर्चित पंडित पन्नालाल जी के जीवन और उनकी उपलब्धियों के बारे में जितना ही अधिक विचार किया जाता है, आश्चर्य-चकित और श्रद्धानवत होने को विवश होना पड़ता है। उनके व्यक्तित्व के ऐसे अनेक आकर्षक पक्ष हैं और उनके कार्य की ऐसी अनेक दिशाएं हैं जो निःसंदेह डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को जैन समाज की जागृति और तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के युग का अगुआ सिद्ध करते हैं।

इनके व्यक्तित्व के अनेक पहलू मन को मोहते हैं । एक साधारण परिस्थिति में उत्पन्न होने वाला व्यक्तित्व इतना असाधारण कैसे बन जाता है। हम लोग जो इस सिद्धांत को मानते हैं कि व्यक्ति अपने उत्कर्ष और अपकर्ष का, अपने बंध और मोक्ष का, स्वयं कर्ता है- इसके लिये भी पं. पन्नालाल जी का जीवन लौकिक क्षेत्र में और आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में उस सिद्धांत की सत्यता की कसौटी रहा हैं। वैसे तो पंडित जी ने 1931 में ही साहित्यिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था, किन्तु इधर के कुछ वर्षों में द्रुत गति से दोनों दिशाओं में बढ़ने को अपरिमित शक्ति और शौर्य का परिचय दिया।

पंडित जी को हम सरस्वती-साधक कह सकते हैं क्योंकि उन्होंने समूचे जीवन को सरस्वती आराधना में लगाया है। यह एक विचित्र संयोग है कि पंडित जी के व्यक्तित्व में कुशल लेखक, प्रभावी प्रवक्ता तथा विवादरहित विद्वत्ता का संगम हुआ था। पंडित जी अपनी अप्रतिम प्रतिभा और अनुपम वचन माधुरी द्वारा इतने तन्मय हो जाते थे कि अन्य कार्यों के सुध-बुध ही नहीं रहती थीं। वे बहुत शांत व स्मित थे, किन्तु अपने बुद्धि कौशल से कठिनतम परिस्थितियों को संभालने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। पंडित जी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे, साथ ही आचार में उनकी गहरी निष्ठा थी। यही कारण है कि वे मात्र उपदेशकों की अपेक्षा आचरण प्रधान व्यक्तियों के अधिक निकट रहे। उनकी चर्या एक व्रती जैसी थी और घर में रहकर भी वे वानप्रस्थी रहे। प्रमाण, प्रमेय, गुण, द्रव्य आदि गहन विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करना उनकी विशेषता थी। पंडित जी ने अपने जीवन में सामंजस्य स्थापित किया था। यही कारण है कि वे सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में पक्ष और विपक्ष से परे रहे।

पंडित जी ने अपने जीवन में जितनी साहित्य सेवा की है और उनकी सेवाओं का जितना सम्मान सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है, उनकी क्षमता का कोई व्यक्ति विगत चार दशाब्दियों में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

जीवन के नवम दशक के उत्तरार्द्ध में भी माननीय डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य वार्धक्य एवं तज्जन्य शिथिलता को चुनौती देते हुए अंतिम समय तक अहर्निश चिन्तन-मनन एवं सृजन में अनवरत रूप से प्रवृत्त रहे हैं। आपकी सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं दार्शनिक सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु सन् 1990 में आपका अखिल भारतीय अभिनन्दन भव्य समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ, इस अवसर पर हमारे प्रधान सम्पादकत्व में 862 पृष्ठों का बृहत्काय अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित होकर माननीय पं. साहित्याचार्य जी को समर्पित किया गया और हमारे ही निर्देशन में उनकी साहित्य साधना पर पी,एच.डी. उपाधि का शोध कार्य हुआ।

माननीय डॉ. पं. पन्नालाल जी स्वयं एक संस्था रहे हैं। हमारी कामना है कि उनके शिष्य अपनी ज्ञानसाधना के द्वारा पूज्य संत गणेश प्रसाद जी वर्णी महाराज के वंशवृक्ष की अभिवृद्धि एवं ज्ञान पिपासुओं के लिए पाथेय प्रस्तुत करते रहे।

प्राप्तः 3 मार्च 2011

निदेशक- संस्कृत, प्राकृत एवं जैन विद्या अनुसंधान केंद्र
28, सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी, दमोह (म.प्र.)

त्रिदिवसीय राष्ट्रिय प्राकृत व्याकरण कार्यशाला सम्पन्न

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) नईदिल्ली में दिनांक 22 से 24 मार्च 2011 तक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय प्राकृत व्याकरण कार्यशाला गरिमापूर्वक सम्पन्न हुई। इसमें उद्घाटन एवं समापन सत्रों के अतिरिक्त छह शैक्षणिक सत्रों में प्राकृत व्याकरण पर गहन ऊहापोह पूर्वक विचार-विमर्श किया गया। इस कार्यशाला का आधारग्रंथ आचार्य वररूचिप्रणीत 'प्राकृत प्रकाश' था।

इसके विभिन्न सत्रों के लिए व्याकरण शास्त्र एवं प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ विद्वानों प्रो. राजाराम जैन-नोएडा, प्रो. जानकी प्रसाद द्विवेदी, प्रो. ओमनाथ विमली, प्रो. भवेन्द्र झा, प्रो. जयकान्त सिंह शर्मा एवं प्रो. कमला भारद्वाज ने शैक्षणिक सत्रों की अध्यक्षता की तथा इनका समर्थ - संचालन विद्यापीठ के साहित्य संस्कृत संकाय के अध्यक्ष एवं प्राकृत भाषा के आचार्य प्रो. सुदीप कुमार जैन ने किया। इसमें कुल 33 वरिष्ठ मनीषी एवं व्याकरणशास्त्र तथा प्राकृतभाषा के शोध-अध्येता सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त विद्यापीठ के विभिन्न संकायों व विभागों के मनीषी अध्यापक व शोधछात्र भी सम्मिलित रहे।

इसमें निम्नलिखित सुझाव विद्वन्मण्डली द्वारा प्रस्तुत किये गए -

1. प्राकृत व्याकरण के नियमों (सूत्रों) को विविध-वृत्तियों के आधार पर वैज्ञानिक रीति से सम्पादित किया जाए।

2. इनका सटीक ढंग से अर्थ प्रस्तुत किया जाए।

3. इनके असंदिग्ध-उदाहरण देकर उनमें सूत्रार्थ को घटित करके दिखाया जाए।

4. अन्य संदर्भित-नियम पादटिप्पणी के रूप में दिये जाए।

5. व्याकरणिक-शैलीगत नियमों के बारे में (यथा-प्रत्याहार-प्रयोग, विविध-संज्ञाएं व उनका विवरण आदि) प्रस्तावना में विशद-रीति से लिखा जाए।

6. इनके शब्दों व धातुओं का वर्गीकृत संक्षिप्त कोश भी दिया जाए।

7. प्राकृत भाषा के मूलभूत नियमों को अलग से स्पष्ट किया जाए।

8. देशी प्रयोगों के बारे में सार्थ विवरण दिया जाए।

9. आधुनिक आंचलिक-भाषाओं एवं बोलियों के प्रयोगों का तारतम्य तत्त्वछेत्रीय प्राकृत अपभ्रंशों के क्रम से वैज्ञानिकरीति से देकर इनकी परम्पराएं स्पष्ट की जाए।

10. विद्वानों की विशेषज्ञ मंडली निर्धारित कर इस कार्य में उनकी निरंतर परामर्श ली जाए।

11. कार्य पूर्ण होने पर प्रकाशन से पूर्व एक 15-20 दिवसीय कार्यशाला करके वरिष्ठ विशेषज्ञ विद्वानों के मध्य इसके नवनिर्मित स्वरूप पर विशद समीक्षा करने के बाद आवश्यक संशोधन/परिवर्धन आदि किए जाएं।

12. तदुपरान्त इसे विद्यापीठ प्रकाशन के रूप में प्रकाशित कराकर देश-विदेश के प्राकृत जिज्ञासुओं को उपलब्ध हो सके - ऐसी व्यवस्था भी की जाएं।

उद्घाटन एवं समापन सत्रों में अध्यक्षीय वक्तव्यों में माननीय कुलपति जी ने इन सभी प्रस्तावों को लागू करने पर जोर देते हुए कहा कि यदि अपेक्षा हो, तो इस कार्य के लिए प्राकृत के एक अतिथि-प्राध्यापक की भी नियुक्ति की जाए। साथ ही निर्मित होने के बाद इस ग्रंथ का प्रकाशन विद्यापीठ का प्रकाशन विभाग करेगा-

इसकी घोषणा भी उन्होंने की।

समापन-सत्र में मुख्य वक्तव्य देते हुए विख्यात प्राकृत भाषा मनीषी प्रो. राजाराम जैन ने कहा कि प्राकृतभाषा के क्षेत्र में अद्यावधि देश-विदेश में हुए कार्यों का डाटा विद्यापीठ में एकत्रित होना चाहिए। साथ ही अप्रकाशित प्राकृत पांडुलिपियों एवं ग्रंथों का भी विवरण रखा जाए, तथा हो सके, तो उनकी (E-copy) भी रखी जाए, ताकि शोधार्थियों की अधिक महत्वपूर्ण- साधन मिल सकें। प्राकृत के अद्यावधि सम्पन्न शोध प्रबंधों की छायाप्रतियां भी रखी जानी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि इस कार्य को करने में अपनी विशेष क्षमता व योग्यता का प्रमाण इस कार्यशाला के सफल संयोजन व संचालन द्वारा प्रो. सुदीप जैन ने दे दिया है। पहिले से भी उनकी प्रतिभा व क्षमता से प्राकृत जगत परिचित है, अतः ये कार्य उनके द्वारा संभव है। अतः विद्यापीठ इन कार्यों को उनके निर्देशन में सम्पन्न कराए।

- डॉ. सुदीप जैन, संयोजक

उत्कृष्ट योगदान हेतु डॉ. 'भागेन्दु' जैन का नागरिक अभिनंदन

यहां गणतंत्र दिवस पर स्वतंत्रता संग्राम सेनानी डॉ. शैलार स्मृति न्यास दमोह ने साहित्य, संस्कृति, कला, समाज, धर्म और दर्शन शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' दमोह को उच्च शिक्षा, साहित्य और समाज सेवा के क्षेत्र में अप्रतिम योगदान के लिए एक भव्य विशेष समारोह में मध्यप्रदेश शासन के जल संसाधन एवं पर्यावरण मंत्री माननीय श्री जयन्त मलैया जी के मुख्य आतिथ्य में श्रीफल, शाल एवं प्रशस्ति पत्र समर्पित कर सम्मानित किया। अनेक संस्थाओं की ओर से भी पुष्प मालाओं के द्वारा अभिनंदित किया गया।

इस भव्य और गरिमा मंडित समारोह की अध्यक्षता दमोह नगर पालिका परिषद के अध्यक्ष पं. मनु मिश्रा ने की। समारोह के विशिष्ट अतिथि दमोह जिला पुलिस अधीक्षक श्री डी.के.आर्य और दमोह जिला शिक्षा अधिकारी डॉ. पी.एल. शर्मा थे।

डॉ. 'भागेन्दु' जी के व्यक्तित्व, वैदुष्य और योगदान पर बुंदेलखंड साहित्य संस्कृति कला परिषद के अध्यक्ष श्री अजीत श्रीवास्तव एडवोकेट एवं पूर्व विधायक श्री आनंद कुमार श्रीवास्तव ने प्रकाश डालकर उन्हें अभिवन्दित किया।

डॉ. भागेन्दु तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत महासंघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष है। बधाई।

वैशाली में 'प्राकृत भाषा और बिहार' विषयक विद्वत् संगोष्ठी सम्पन्न

14 मार्च 2011 को प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली के सभागार में 'प्राकृत भाषा और बिहार' विषय पर एक दिवसीय विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता डॉ. चित्तरंजन प्रसाद सिन्हा, सेवानिवृत्त निदेशक, के.पी. जायसवाल शोध संस्थान, पटना ने की। संस्थान के निदेशक डॉ. ऋषभचन्द्र जैन ने संगोष्ठी के लिए निर्धारित विषय का विवेचन करते हुए कहा कि बिहार राज्य ने विभिन्न प्राकृतों के संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मागधी प्राकृत तो बिहार में मगध क्षेत्र से ही विकसित हुई थी। पश्चिमी एवं उत्तरी बिहार की भाषाओं में शौरसेनी प्राकृत का भी प्रभाव देखा जाता है। अर्द्धमागधी के विषय में भी विद्वानों का मानना है कि इसमें आधी मागधी एवं आधी अन्य प्राकृत समाविष्ट होती है इसी कारण से इस भाषा को अर्द्धमागधी नाम दिया गया। मुख्य वक्ता के रूप में संबोधित करते हुए डॉ. कमलेश कुमार जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने कहा कि प्राकृत के संरक्षण में बिहार के योगदान को तथा बिहार के लोगों को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि 20वीं सदी में भी बिहार सरकार एवं बिहार के लोगों के प्रयत्न से प्राकृत के अध्ययन-अध्यापन के लिए 1955ई. में वैशाली में इस संस्थान की स्थापना हुई थी। इस संस्थान एवं इसमें कार्यरत विद्वानों के अध्ययन एवं शोध से लगभग 75 ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं , जो प्राकृत भाषा के संरक्षण के लिए बिहार का विशिष्ट योगदान है। बिहार में प्राकृत भाषा और साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. रामप्रकाश पोद्दार, डॉ. नथमल टाटिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्वत् संगोष्ठी में डॉ. रामजी राय, आरा, डॉ. मंजुबाला, डॉ. रामनरेश राय, डॉ. हरिकिशोर सिंह, डॉ. अनिल कुमार दिवाकर आदि ने भी अपने विचार रखें। अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. चित्तरंजन प्रसाद सिन्हा ने कहा कि पूरे देश में जितने भी प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनमें से अधिकांश प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं। इससे यह पता चलता है कि प्राकृत का प्रभाव सर्वव्यापी था और उसके बोलने तथा समझने वाले लोग तत्कालीन सम्पूर्ण भारत में मौजूद थे। अंत में सभी विद्वानों, श्रोताओं, संवाददाताओं एवं सहयोगियों को धन्यवाद देते हुए सभा पूर्ण हुई।

वैशाली में जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला सम्पन्न

15 अप्रैल 2011 को प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली में वैशाली महोत्सव एवं महावीर जयंती के अवसर पर जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला -2011 का आयोजन संस्थान सभागार में किया गया, जिसकी अध्यक्षता डॉ. हरिशचन्द्र सत्यार्थी ने की। व्याख्यानमाला का विषय था **'जनमानस में भगवान महावीर का प्रभाव'** व्याख्यानमाला का उदघाटन श्री एस.एम. राजू, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर ने भगवान महावीर के चित्र के समक्ष दीप प्रज्ञवलित करके किया। उद्घाटन भाषण में आयुक्त ने कहा कि यह संस्थान लगभग 6 दशक पुराना है इसकी उन्नति के लिए एक मास्टर प्लान बनाने की दिशा में कार्यवाही की जायेगी। व्याख्यानमाला का विषय समसामयिक एवं महत्वपूर्ण हैं। भगवान महावीर के कालजयी सिद्धांतों को अपने जीवन में उतारने की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी 2600 वर्ष पहले थी।

व्याख्यानमाला को संबोधित करते हुए आचार्य गोपी लाल अमर, नईदिल्ली ने कहा कि सब प्राणी अमन-चैन और सुख-शांति चाहते हैं। इसलिए आज भी सत्याग्रह की आवश्यकता है क्योंकि वस्तु के स्वभाव-परभाव की घुसपैठ नहीं चलती। प्रो. प्रमोदकुमार सिंह, मुजफ्फरपुर ने कहा कि महावीर का दर्शन समता का दर्शन है, यहाँ स्त्री-पुरुष, साधु-साध्वी, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद नहीं था। यदि हमारा समाज सुख शांति चाहता है तो उसे महावीर द्वारा आचरित किये गये तथा कहे गये आचार नियमों को अपनाना ही होगा। समाज में यह महावीर का प्रभाव ही है कि हम वैचारिक स्वतंत्रता के साथ जीवन जी रहे है। प्रो. नवलकिशोर प्रसाद श्रीवास्तव ने कहा कि क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषायें ही सारी समस्याओं की जड़ है। यदि हम इन पर नियंत्रण कर सके तो हमारा जीवन आदर्श बन जायेगा, जिससे हमारा वर्तमान जीवन तो सुधरेगा ही, आगामी जीवन अर्थात् परलोक भी सुधर जायेगा।

जम्बूद्वीप हस्तिनापुर में पधारे 40 विदेशी स्कॉलर्स

जम्बूद्वीप में इंटरनेशनल स्कूल में विराजित साधुओं के साथ विदेशी शोधार्थियों को अध्ययन करातीं पूज्य ज्ञानमती माताजी।

जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर में 14.06.11 को अमेरिका आदि विभिन्न स्थानों से पधारे लगभग 40 विदेशी स्कॉलर्स ने पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के मुखारविन्द से जैनधर्म में विज्ञान का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया। इस अवसर पर सभी शोधार्थियों ने जम्बूद्वीप रचना, तेरहद्वीप रचना और तीनलोक रचना का दर्शन करते हुए जैनधर्म में भूमंडल के नक्शे को जानने और समझने का प्रयास किया। इस अवसर पर सभी विदेशी स्कॉलर्स ने अत्यन्त प्रभावित होकर प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथों में जैनभूगोल के वर्णन को जाना।

जैनधर्म में शोध कार्य कर रहे विदेशी शोधार्थियों को भारत में आमंत्रित कर जैनधर्म का विशेष ज्ञान प्राप्त कराने हेतु दो माह का इंटरनेशनल समर स्कूल प्रतिवर्ष लगाया जाता है। इस वर्ष लगभग 40 विदेशी स्कालर्स इस समर स्कूल में भाग लेकर जैनधर्म के वरिष्ठ विद्वानों द्वारा जैनधर्म में विज्ञान, पर्यावरण, समाजशास्त्र, पूजा पद्धति आदि जैसे अनेक विषयों पर अध्ययन कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में जैन भूगोल को समझने के लिए समस्त शोधार्थियों ने जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर पधारकर पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से बहुमूल्य बातें सीखीं। पूज्य माताजी ने अपने लेक्चर में वर्तमान पृथ्वी तथा नरकलोक, स्वर्गलोक एवं सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रहों की अवस्थिति बताते हुए अनेक अमूल्य बातें बताईं। उन्होंने कहा कि जैनधर्म के अनुसार इस जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा माने गये हैं, जो सूर्य आज उगता है वह सूर्य दूसरे दिन नही उगता अपितु अन्य एक सूर्य दूसरे दिन प्रकाश देता है। इसी प्रकार चन्द्रमा का भी भ्रमण इस पृथ्वी पर होता है। उन्होंने कहा कि एक दिन जो सूर्य भरतक्षेत्र में आता है, वह दूसरे दिन ऐरावत क्षेत्र में जाता है और इस प्रकार ऐरावत क्षेत्र वाला सूर्य दूसरे दिन भरतक्षेत्र में आता है। इस क्रम के अनुसार जैनधर्म में दो सूर्य और दो चन्द्रमा माने गये हैं। उन्होंने कहा कि सूर्य की भ्रमण गति एक मिनट में लगभग साढ़े 7 लाख किमी. मानी गई है और शास्त्रों में सूर्य के विमान से भी बड़ा चन्द्रमा का विमान बताया गया है। उन्होंने त्रिलोकसार ग्रंथ का आधार लेते हुए कहा कि सूर्य में बारह हजार किरणें होती हैं एवं सूर्य स्वयं स्वभाव से गरम नहीं होता अपितु उसकी किरणों में गर्मी होती है। उन्होंने बताया कि सूर्य का आकार अर्धचन्द्राकार है एवं दूसरे आधे हिस्से में सिद्ध भगवान के चैत्यालय बने हुए हैं। वास्तव में यह सूर्य देवों का विमान है, जिसे लेकर देवतागण जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप आदि में विराजमान भगवन्तों की वंदना के लिए पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाते हैं।

इस अवसर पर आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा जैनधर्म में षट्काल परिवर्तन के विषय पर विशिष्ट व्याख्यान प्रदान किया गया। इस व्याख्यान के माध्यम से शोधार्थियों को पहला, दूसरा, तीसरा काल तथा चौथा काल, जिसमें तीर्थंकर भगवन्तों का जन्म होता है व वर्तमान में चल रहे पंचमकाल और आने वाले

समय में षष्ठ काल जिसमें समस्त सृष्टि का विनाश होकर पुनः नूतन सृष्टि का सृजन होगा, आदि के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी प्राप्त की।

विशेषरूप से इस अवसर पर ऐलिजाबेथ टाउन–यू.एस.ए. से पधारे जेफरी डी. लॉग ने अपने शोध के द्वारा जैनधर्म पर आधारित एक पुस्तक का लेखन करके पूज्य माताजी के करकमलों में समर्पित किया तथा जैनधर्म में अनेकांतवाद व कॉस्मोलॉजी पर अपना विशिष्ट वक्तव्य भी प्रदान किया। कार्यक्रम का शुभारंभ समर स्कूल संयोजक डॉ. सुगन सी. जैन तथा अमेरिका से पधारे जैफरी डी. लॉग व जम्बूद्वीप के अध्यक्ष कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन द्वारा दीप प्रज्ज्वलन के साथ हुआ। पुनः अध्यक्ष महोदय ने सभी के प्रति स्वागत एवं आभार प्रस्तुत करते हुए अपना संभाषण दिया। कार्यक्रम का संचालन जीवन प्रकाश जैन ने किया तथा स्कालर्स के लिए पूज्य माताजी के मंगल प्रवचनों का अंग्रेजी रूपान्तरण ब्र. कु. स्वाति जैन ने कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया।

संस्थान की ओर से इस अवसर पर पधारे समस्त विदेशी मेहमानों का भावभीना स्वागत किया गया, साहित्य आदि भी प्रदान किया गया।

– जीवन प्रकाश जैन, प्रचार संयोजक, जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर

देश सेवा को समर्पित – शहीद गौतम जैन स्मृति सम्मान

श्री सुमतप्रकाश सुधा जैन के सुपुत्र ले. गौतम जैन कश्मीर के राजौरी में कालाकोट थाना क्षेत्रान्तर्गत 1 नवम्बर 2001 को ऑपरेशन 'नियाज' के तहत आतंकवादियों से लड़ते हुए शहीद हो गया था। अपने बचपन से ही देश की सेवा करने का मंसूबा लिये यह नौजवान, हम महफूज रह सके इसलिए स्वयं आतंकियों से जा भिड़ा और कई दुश्मनों को मौत के घाट उतारकर उसने अपना सर्वस्व मातृभूमि के लिये न्यौछावर कर दिया। ऐसे वीर सपूत को हम श्रद्धा से नमन करते हैं।

गौतम जैन ने राष्ट्र सेवा का जो कार्य किया है वह अविस्मरणीय है, इसलिए दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप, इन्दौर नगर द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर देश सेवा के लिए उत्कृष्ट कार्य करने वाले योग्य पात्र का चयन कर प्रतिवर्ष शहीद गौतम जैन स्मृति समारोह आयोजित किया जाता है और देश सेवा को समर्पित व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। ऐसे प्रेरणास्पद कार्यक्रमों के माध्यम से देश के सपूतों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर समाज में देशप्रेम का जज्बा उत्पन्न करने का उद्देश्य निहित है।

अतः हमारा आप सभी से अनुरोध है कि वीरता के कार्य करने वाले ऐसे योग्य पात्र के बारे में हमें जानकारी भेजकर आप भी इस पुनीत यज्ञ का हिस्सा बन सकते हैं।

वीरता का कार्य करने वाले का नाम .....

पता .....

फोन नं. .....

वीरता कार्य की विस्तृत जानकारी .....

कार्य क्षेत्र ..... पद .....

अन्य जानकारी .....

जानकारी भेजने वाले का नाम, पता, फोन नं.

संपर्क सूत्र –

मनोज बाकलीवाल 9425053841 manoj.jain0720@yahoo.com

''प्रज्ञा शोध संस्थान' लोकार्पित

देवी अहिल्या की नगरी इंदौर धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से सदा समृद्ध रही है। इसकी समृद्धि के लिए श्रीमानों और धीमानों ने पूरी लगन और निष्ठा के साथ अथक प्रयास किये हैं। इंदौर की खुशहाली के पीछे अनेकों लोगों की सोच व सहयोग रहा है। बाहर के प्रवासियों को सतत विकास व उन्नति का पथ दिखलाया है। श्री महावीर तपोभूमि प्रणेता युवा संत **मुनि श्री प्रज्ञासागरजी महाराज** का 2007 में इंदौर आगमन एक इतिहास बन गया। चातुर्मास की समाप्ति के पूर्व मुनिश्री की गृहस्थ जीवन की ज्येष्ठ भगिनी बा. ब्र. बहन डॉ. मीना दीदी (ज्योतिषाचार्य) एवं बहनश्री की अनन्य सहयोगी बा. ब्र. साधना दीदी के संयुक्त प्रयास से समवशरण मंदिर के समीप कंचनबाग साउथ तुकोगंज में 'प्रज्ञा शोध संस्थान' बनाने का संकल्प लिया। वर्ष 2007 में बोया गया यह बीज आज वृक्ष बनकर शोध क्षेत्र में संलग्न विद्यार्थियों के लिए घनी छाया बनने जा रहा है। इसके नीचे बैठकर शोधार्थी पूज्य गुरुदेव के आशीर्वाद एवं उदारमना लोगों के सहयोग से जैन दर्शन और जैन साहित्य को विश्वव्यापी बना सकेंगे।

'प्रज्ञा शोध संस्थान' के लोकार्पण के लिए श्री महावीर तपोभूमि उज्जैन से चलकर इंदौर आये पूज्य मुनि श्री प्रज्ञासागरजी महाराज ने कहा कतिपय लोग हर अच्छे काम का विरोध करते हैं। विरोधियों की वजह से हर अच्छा कार्य और अच्छा होता चला जाता है। प्रज्ञा शोध संस्थान का भी कुछ लोगों ने विरोध किया परंतु पंडित श्री रतनलालजी शास्त्री की सत्प्रेरणा व सम्बल से मीना दीदी ने श्रीमती नवीन डोसी के समर्पण के फलस्वरूप शोध संस्थान बनकर तैयार हो गया। इनका यह अवदान आगामी समय में समाज के लिए वरदान सिद्ध होगा। मुनिश्री ने कहा ज्ञान जीवन की सच्ची पूंजी है जिसके पास ज्ञान नहीं वह धनवान होकर भी विपन्न है। हमारे बच्चे लौकिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिदिन नई ऊँचाईयों को छू रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि होनहार पीढ़ी अपने धर्म की और दर्शन की समृद्धि के लिए भी कुछ करें ताकि भगवान श्री महावीर स्वामी का यह धर्म जन-जन के मन का धर्म हो सके। 'प्रज्ञा शोध संस्थान' इसी दिशा में उठाया गया एक कदम है। हमें आपका आर्थिक एवं बच्चों का बौद्धिक सहयोग चाहिए।

श्रुत पंचमी के पावन प्रसंग पर लोकार्पित 'प्रज्ञा शोध संस्थान' का लोकार्पण दिनांक 05.06.11 को सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री नवीनजी जैन-गाजियाबाद (उ.प्र.) के अर्थ सौजन्य से पंडित श्री रतनलालजी शास्त्री, बहनश्री बा.ब्र. लीला बहन इंदौर, बा. ब्र. बहनश्री डॉ. प्रभा जैन जबलपुर ने पूज्य गुरुदेव की उपस्थिति में रक्त वर्णी सूत्र खोलकर किया। इस अवसर पर समाजसेवी श्री माणिक चंद अजमेरा, श्री जयसेन जी जैन, श्री अशोक कासलीवाल, डॉ. अनुपम जैन, श्री पवन जैन (दुर्ग), श्री सुदर्शन जैन पिण्डरई, बा. ब्र. संजय भैय्या जबलपुर, श्री माणकचंदजी पाण्ड्या इंदौर, श्री पप्पूजी पापड़ीवाल इंदौर, समाजसेवी श्रीमान माणकचंदजी पाण्ड्या, श्रीमती अर्चनाजी विनोद जैन, सिंगापुर, श्री अशोकजी अजमेरा, फरीदाबाद, श्री अशोक जैन (चाय वाले) का सम्मान किया गया। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ का सदैव से इंदौर में अकादमिक गतिविधियों के प्रसार का आग्रह रहा है एवं ज्ञानपीठ सभी नवागत गतिविधियों को सहयोग देती है। प्रज्ञा शोध संस्थान के विकास में सहयोग हेतु ब्र. मीना दीदी के अनुरोध पर डॉ. अनपुम जैन ने पूर्ण सहयोग एवं मार्गदर्शन का विश्वास दिलाया तथा ज्ञानपीठ में पधारे अमेरिकी विद्वान प्रो. बिटनी बउमान सहित स्वयं उद्घाटन समारोह में सम्मिलित हुए।

प्रज्ञा शोध संस्थान के लोकार्पण के अवसर पर 'तपोभूमि टाइम्स' मासिक पत्रिका का विमोचन किया गया। साथ ही तपोभूमि में आयोजित महामस्तकाभिषेक 2011 की ऊँ परिवार जयपुर के सौजन्य से प्रदर्शित डीवीडी का भी विमोचन किया गया। समारोह में उपस्थित समस्त गुरुभक्तों समाज के विशिष्टजनों का प्रज्ञा शोध संस्थान द्वारा हार्दिक आभार व्यक्त किया गया। इस अवसर पर मुनिश्री 108 प्रसन्न ऋषिजी महाराज ससंघ एवं क्षु. श्री असीम सागरजी का भी सानिध्य प्राप्त हुआ।

डॉ. अनुपम जैन सरस्वती अलंकरण से सम्मानित

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर वर्ष के अंतर्गत दिगम्बर जैन महासमिति मध्यांचल एवं इंदौर संभाग के तत्वावधान में आयोजित भव्य अलंकरण समारोह के मध्य अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान डॉ. अनुपम जैन, इंदौर को जैन गणित के क्षेत्र में किये गये उत्कृष्ट अनुसंधान एवं मध्यप्रदेश के जैन शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध पांडुलिपियों की खोज, संरक्षण एवं सूचीकरण तथा इंदौर के जैन शास्त्र भण्डारों में संगृहीत समस्त पांडुलि पियों के डिजिटाइजेशन कार्य हेतु सरस्वती अलंकरण से सम्मानित किया गया। महासमिति की ओर से इस अवसर पर वक्ताओं ने डॉ. जैन के बहुआयामी व्यक्तित्व तथा जैन संस्कृति के राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार हेतु किये जाने वाले प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सम्मान के अवसर पर मध्यांचल के अध्यक्ष श्री सुरेन्द्र बाकलीवाल, मंत्री श्री प्रवीण पाटनी, महासमिति के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री अशोक बड़जात्या, श्री आर.के.जैन (रानेका इंडस्ट्रीज), श्री पवन जैन, श्री नवीन जैन-गाजियाबाद तथा स्व. श्री सुनील भोपाली के परिवार के सदस्यगण आदि कई गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

कार्यक्रम का सशक्त संचालन डॉ. संगीता विनायका ने किया। आभार श्री जैनेश झांझरी ने माना।

समणी कुसुमप्रज्ञा जी द्वारा अनूदित एवं सम्पादित
'जीतकल्पसभाष्य' का सरदार शहर में विमोचन करने के उपरान्त
तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य श्री महाश्रमणजी को प्रथम प्रति समर्पित करते हुए डॉ. अनुपम जैन

डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा, कोलकाता नए राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्वाचित

जैन पत्रकारों-संपादकों एवम् विद्वानों का 14 से 16 जुलाई 2011 को तीर्थराज श्री सम्मेद शिखरजी की पावन धरा पर वरिष्ठ जैनाचार्य 108 श्री वर्द्धमान सागरजी महाराज ससंघ के मंगल सानिध्य में तीन दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन सानन्द सम्पन्न हुआ। वरिष्ठ जैन विद्वान प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाशजी फिरोजाबाद की अध्यक्षता में सम्पन्न बैठक में सर्वसम्मति से डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा जैन पत्र संपादक संघ के आगामी तीन वर्षीय कार्यकाल (2011-14) के लिए अध्यक्ष चुने गए। उनके नाम का प्रस्ताव डॉ. सत्य प्रकाश जैन, दिल्ली ने रखा जिसे उपस्थित सदस्यों ने करतल ध्वनि के साथ सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। बाद में डॉ. बगड़ा द्वारा नवीन कार्यकारिणी का गठन कर घोषणा की गई।

2011-14 हेतु नवगठित कार्यकारिणी निम्नवत है–

परामर्श मण्डल

प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाशजी जैन	श्री नीरज जी जैन
श्री कपूरचंदजी पाटनी	श्री रवीन्द्र मालव

कार्यकारिणी

1.	डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा, कोलकाता	अध्यक्ष
2.	श्री अनूपचंद जैन, एडवोकेट, फिरोजाबाद	कार्याध्यक्ष
3.	डॉ. भागचन्द भास्कर, नागपुर	उपाध्यक्ष
4.	डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	उपाध्यक्ष
5.	श्री सुमत कुमार जैन, सासनी	उपाध्यक्ष
6.	डॉ. सत्य प्रकाश जैन, दिल्ली	कोषाध्यक्ष
7.	श्री अखिल बंसल, जयपुर	महामंत्री
8.	डॉ. महेन्द्र मनुज, इन्दौर	मंत्री
9.	डॉ. राजीव प्रचण्डिया, अलीगढ़	संगठन मंत्री
10.	डॉ. ज्योति जैन, खतौली	प्रचार मंत्री
11.	डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी', वाराणसी	सदस्य
12.	डॉ. शेखर चन्द जैन, अहमदाबाद	सदस्य
13.	डॉ. मिलाप डंडिया, जयपुर	सदस्य
14.	डॉ. विमला जैन, फिरोजाबाद	सदस्य
15.	श्री शैलेष कपाड़िया, सूरत	सदस्य
16.	श्री शांतिनाथ होटपोटे, हुबली	सदस्य
17.	डॉ. नरेन्द्र जैन 'भारती', सनावद	सदस्य
18.	श्री एन.के. जैन, सीए., अजमेर	सदस्य
19.	श्री अकलेश जैन, अजमेर	सदस्य
20.	श्री रमेश कासलीवाल, इन्दौर	सदस्य
21.	डॉ. संगीता विनायका, इन्दौर	सदस्य

Ajit ! what a wonderful magnificient place and staff. Surekha Mishra is so charming and endearing, Congratulation and just go doing what you are. May shiradi Sai grant you all that you need for all things, Love

- Ranju Matkar
3/A, Maya Apartments,
25/1, Ashoka Road, St. Thomas Town,
Bangalore-560084

उत्तम प्रबंध के साथ श्रेष्ठ तथा अमूल्य पुस्तकों - पांडुलिपियों का अनुपम संग्रह। वैज्ञानिक पुस्तक प्रबंधन शोध केन्द्र में शोध छात्रों को अध्ययन करते देख हृदय प्रफुल्लित हो उठा।

- सनत कुमार जैन
95-ए, ब्रजेश्वरी एनेक्स
बंगाली चौराहे के पास, इंदौर

सम्यक् ज्ञान ही जीवन उत्थान का कारण होता है। प्रत्येक जीव को उस ज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। पुस्तकालय इसमें अच्छी भूमिका अदा करते हैं। इनके माध्यम से जीवन में आत्म उत्थान की ओर अग्रसर हो।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय भी बहुत अच्छा माध्यम है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का। भव्य जीव सम्यक ज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण करें ।

15.05.11 **- मुनि सुबलसागर**

Thanks so much for a wonderful visit. I really enjoyed borrowing the library and meeting people related with Jain community here in Indore I fell fortunate be a part of the life of the centre (Kundakund Jnanapitha)

- Dr. Whitney Bauman
Florida International Univercity
1342, Diexal Ave.
H. 205, Miami FL (USA)
08.06.11 wbauman@fiu.edu

Am amayzed by the unique collection and the Jain's knowledge.

- Dr. Deepa Vanjani
Prof. of English
20.06.11 P.M.B. Gujrati College, Nasia Road, Indore

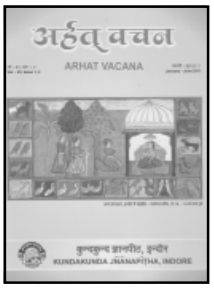

1. "Experiment on Water-Aura" by Jeoraj Jain : The author has relied on Kirlian photography of Aura which is yet not recognised authentic scientifically. As a matter of fact the Aura is not at all any index of the property of any object. Aura is the result of high voltage electric field on the photograph of the object on the film. Once the photograph is taken the contact with the real object is shut. Aura appears in the photograph only if moisture is present and in absence of moisture and also in vacuum, it is not there. Obviously, the Aura is only the impact of high voltage electric field and has nothing to do with any property of the object under study, moreover the electromagnetic waves emanating from the object are so week in comparison to the high voltage field and cannot have any impact and the contact with the object is already shut when aura is photographed. It appears that the author is obsessed with the practice in Swetamber Sthanakvasi sect of taking 'Dhowen' water which contains remnants of food which is definitely the breeding nursery for germs and certainly cannot be better than the water from R.O, U.V, and filtered, in purity, free from all sorts of germs. It is his bias that he wants to prove superiority of 'Dhowen' water by pseudo scientific jargon which people generally do not understand. I challenge if he can get published such article in any international scientific journal. I request you to desist from publishing such articles in the prestigious journal, 'Arhat Vacana' without getting it evaluated by some reputed scientist.

2. "Ādhunika Jīva Vijñāna se pare Jaina Jīva Vijñāna" by Prabhat Kumar Jain : The learned author has tried to prove impact of karmic load from previous life or the Karmāṇus on the functioning of genes. He has vainly dabbled in chemical structures of chemicals, the nucleotides. He has himself agreed that the functioning of genes is conditioned by ambient environment which is scientifically well established fact and there is nothing new. He has quoted the results of the experiments by the pioneer genetic scientist J. Craig Venter, creating the living cell in laboratory which only refutes any impact of Karmāṇus and surprisingly the author has not mentioned about the structure of Karmāṇus and how they act or interact in functioning of genes. The genes and their functioning have been very well researched and documented which satisfies the required scientific scrutiny. The functioning of physical body can all be explained by genetics and is 'terminus techniqu' and there is no need to stretch it further to Karmāṇus. The vulnerability of the off-springs from the genetic traits of biological parents has nothing to do with the karmic load of the off-spring as it is the result of deeds of the parents only.

S.M. Jain
7-B, Talwandi
23-07-11 Commerce College Main Road, Kota-324005

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर द्वारा प्रकाशित साहित्य

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक	I.S.B.N.	मूल्य
01	जैन धर्म का सरल परिचय	पं. बलभद्र जैन	81-86933-00-x	अनुपलब्ध
02.	बालबोध जैनधर्म, पहला भाग संशोधित	पं. दयाचन्द गोयनीय	81-86933-01-8	1.50
03.	बालबोध जैनधर्म, दूसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-02-6	1.50
04.	बालबोध जैनधर्म, तीसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-03-4	3.00
05.	बालबोध जैनधर्म, चौथा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-04-2	4.00
06.	नैतिक शिक्षा, प्रथम भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-05-0	4.00
07.	नैतिक शिक्षा, दूसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-06-9	4.00
08.	नैतिक शिक्षा, तीसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-07-7	7.00
09.	नैतिक शिक्षा, चौथा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-08-5	6.00
10.	नैतिक शिक्षा, पांचवाँ भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-09-3	6.00
11.	नैतिक शिक्षा, छठा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-10-7	6.00
12.	नैतिक शिक्षा, सातवां भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-11-5	6.00
13.	The Jain Sanctuaries of the Fortress of Gwalior	Dr. T.V.G. Shastri	81-86933-12-3	अनुपलब्ध
14.	जैन धर्म - विश्व धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-13-1	12.00
15.	मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य	पं. नाथूराम शास्त्री	81-86933-14-x	70.00
16.	Jain Dharma-Vishwa Dharma	Pt. Nathuram Dongariya Jain	81-86933-15-8	20.00
17.	अमर ग्रंथालय इन्दौर में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-16-6	अनुपलब्ध
18.	आचार्य कुन्दकुन्द श्रुत भंडार खजुराहो में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-17-4	अनुपलब्ध
19.	म.प्र. का जैन शिल्प	श्री नरेशकुमार पाठक	81-86933-18-2	300.00
20.	भट्टारक यशकीर्ति दि. जैन सरस्वती भंडार, ऋषभदेव (केशरिया जी) में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-19-0	अनुपलब्ध

21.	जैनाचार विज्ञान	मुनि सुनीलसागर	81-86933-20-4	अनुपलब्ध
22.	समीचीन सार्वधर्म सोपान	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-21-4	20.00
23.	An Introduction to Jainism and its Culture	Pt. Balbhadra Jain	81-86933-22-0	100.00
24.	Ahiṁsā : The Ultimate Winner	Dr. N.P. Jain	81-86933-23-9	अनुपलब्ध
25.	जीवन क्या है ?	डॉ. अनिल कुमार जैन	81-86933-24-7	50.00
26.	विदेशी संग्रहालयों में भारत की जैन मूर्तियाँ	श्री नरेश कुमार पाठक	81-86933-25-5	50.00
27.	Mathematical Contents of Digambara Jaina Texts of Karṇānuyoga Group, Vol.-1& Vol. - 2	Prof. L.C. Jain	81-86933-26-3 81-86933-27-1	3000.00 Per Set
28.	जैन संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण चरित एक अध्ययन	डॉ. संस्कृति राँवका	81-86933-28-x	अनुपलब्ध
29.	अध्यात्म से समृद्धि, स्वास्थ्य एवं शान्ति	प्रो. पारसमल अग्रवाल	81-86933-29-8	100.00
30.	तत्वदेशना	आचार्य विशुद्धसागर	81-86933-30-7	अनुपलब्ध
31.	व्यावहारिक गीता	प्रो. प्रभु नारायण मिश्र	81-86933-31-x	अनुपलब्ध
32.	निजानन्द शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-32-8	10.00
33.	कलियुग का क्रन्दन	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-33-6	10.00
34.	अनुपम शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-36-4	10.00
35.	संबोधन शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-35-2	10.00
36.	स्वर्ण शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-36-0	10.00
37.	मुक्तिकांता शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-37-9	10.00
38.	धर्म शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर	81-86933-38-7	10.00
39.	स्वरूप-संबोधन परिशीलन विमर्श (संगोष्ठी की आख्या)	आचार्य विशुद्धसागर	81-86933-39-5	स्वाध्याय
40.	इंदौर ग्रंथावली भाग - 1	डॉ. अनुपम जैन एवं ब्र. अनिल जैन शास्त्री	प्रकाशनाधीन	

नोट : पूर्व के सभी सूची पत्र रद्द किये जाते हैं। मूल्य परिवर्तनीय हैं।

प्राप्ति सम्पर्क : प्रबन्धक-कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452 001

हमारे नये प्रकाशन – 2011

व्यावहारिक गीता
डॉ. प्रभुनारायण मिश्र
81-86933-31-X

स्वर्ण शतकम्
आचार्य योगीन्द्र सागर 'सागर'
81-86933-36-0

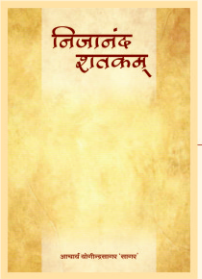

निजानन्द शतकम्
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-32-8

मुक्तिकांता शतकम्
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-37-9

कलियुग का क्रन्दन
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-33-6

धर्म शतकम्
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-38-7

अनुपम शतकम्
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-34-4

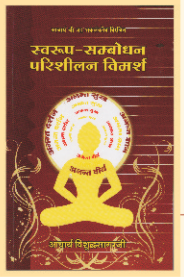

स्वरूप-सम्बोधन परिशीलन विमर्श
(संगोष्ठी की आख्या)
प्रेरणा - आचार्य विशुद्धसागर
81-86933-39-5

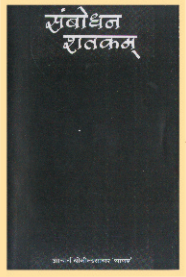

संबोधन शतकम्
आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'
81-86933-35-2

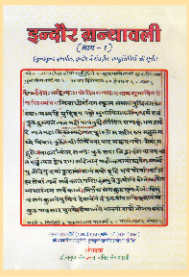

इंदौर ग्रंथावली भाग-1
डॉ. अनुपम जैन एवं
ब्र. अनिल जैन शास्त्री
(प्रकाशनाधीन)

RNI No.: 50199/88

I.S.S.N. 0971 - 9024

वर्ष - 23, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2011

अनुक्रम / INDEX

सम्पादकीय - म.प्र. के जैन शास्त्र भंडारों का सूचीकरण 03
□ अनुपम जैन, इन्दौर

लेख / ARTICLES

अनुशासन एवं शिष्टाचार, 11
□ आचार्य विद्यानन्दमुनि, दिल्ली

दि. जैन मुनि / आर्यिका का वंदन 15
□ आर्यिका चन्दनामती, हस्तिनापुर

भाषा विज्ञान 25
□ नारायणलाल कछारा, उदयपुर

सूक्ष्म से साक्षात्कार 29
□ जतनलाल रामपुरिया, कोलकाता

तीर्थों के पीछे क्या है ? 35
□ सूरजमल बोबरा, इन्दौर

ग्वालियर दुर्ग एक जैन तीर्थ 43
□ जया जैन, ग्वालियर

Symbolism in Jain Literature 47
□ Anupam Jain, Indore

Are Gṛddhapiccha, Umāsvāmī and Umāsvāti one person? 55
□ R.S. Shah, Pune

Ancient Indian Astronomy and Mathematics 67
□ D.S. Hooda, Raghogarh

टिप्पणी / Short Notes

जैन धर्म दर्शन : जीवन जीने की कला 79
□ उषा रानी शर्मा, भरतपुर

अंतरपीड़ा की अपील 83
□ सुरेश बाफना आदि

विद्वद्वर्य डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य 87
□ भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', दमोह

गतिविधियाँ 89

मत अभिमत 97

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर रजत जयंती वर्ष

18-10-2011 से 17-10-2012

कार्यक्रमों की विस्तृत घोषणा अगले अंक में

Sugan / 0930 212 55 94